सत्य का उदय

लेखक

रामचन्द्र

अध्यक्ष

श्री रामचन्द्र मिशन

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ८)

प्रथम संस्करण १९६६ : १००० प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण १९७२ : ३००० प्रतियाँ
तृतीय संस्करण १९८० : २००० प्रतियाँ

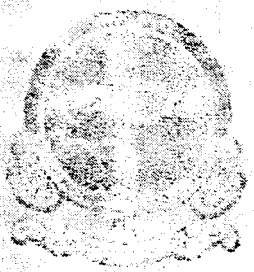

प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहांपुर (उत्तर प्रदेश), भारत

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित।

मुद्रक : दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद

अपने गुरु भाई

स्व० श्री रामेश्वर प्रसाद जी मिश्र

को

समर्पित

आमुख

इसके पहले कि मैं संक्षिप्त पुस्तक में वर्णित विषय पर अपना मत प्रकट करूँ, मुझे लेखक के संबंध में कुछ पंक्तियाँ लिखने में विशेष आनन्द का अनुभव होता है। लेखक महात्मा श्री रामचन्द्र जी श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष हैं। वे नाना प्रकार के झंझटों एवं दायित्वों से भरा एक साधारण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हैं। उनका शरीर दुर्बल एवं बाह्यरूप बिलकुल ही सहज है। अपने सूक्ष्म निरीक्षण के स्वभाव के कारण मैंने उनका लगभग ५ वर्षों तक अत्यन्त बारीकी से अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उनमें उच्चतम-कोटि के महात्माओं के सभी गुण विद्यमान हैं। मेरे विचार से ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उनकी अध्यात्म विषयक उपलब्धियाँ असाधारण हैं। उन्होंने सहजमार्ग के नाम से राज-योग का एक परिमार्जित रूप उपस्थित किया है जो सर्वसामान्य को समान रूप से सुलभ है। इस पद्धति का विशद विवेचन उनकी पूर्व प्रकाशित कृति "सहज-मार्ग के प्रकाश में राजयोग का दिव्यदर्शन" (Efficacy of Raj Yoga in the light of Sahaj Marg) में किया गया है। इस प्रणाली की विशेषता अभ्यासी में यौगिक शक्ति का संचालन है जिससे उसकी आन्तरिक जटिलताएँ मिट जाती हैं, चक्र शुद्ध एवं प्रकाशित हो जाते हैं एवं मार्ग सीधा और सरल हो जाता है। कहना न होगा कि उपर्युक्त बातें मैंने इसलिए लिखी हैं कि हमेशा प्रणाली की श्रेष्ठता एवं गुरु की योग्यता ही वास्तविक अर्थ रखती है और

उन के चुनाव की त्रुटि सारा प्रयास व्यर्थ और अनुपयोगी कर देती है।

पुस्तक राजयोग पर एक संक्षिप्त विवेचन है और आध्यात्मिकता में रुचि रखने वालों के लिए ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य है। राजयोग का मुख्य उद्देश्य प्राचीन महान ऋषियों के उपदेशों में निहित सत्य की अनुभूति करना है। उन उपदेशों की केवल वाचिक प्रशंसा करने से अथवा जीवन-प्रणाली में उन्हें आचरण संबंधी ठीक नियम मान लेने से ही हमारा काम नहीं बनता पर यदि कोई उन्हीं उपदेशों को, उनकी सत्यता की स्वयं अनुभूति कर, अपने जीवन-क्रम में उतार लेता है तो बड़ा अन्तर पड़ जाता है। यह उसके उच्चतम आध्यात्मिक विकास करने में सहायक है। ऐसे व्यक्ति को असीम शक्ति प्राप्त हो जाती है पर वह स्वयं उनके प्रति अन्यमनस्क रहता है और उसके सारे कार्य केवल ऊपर से प्राप्त निर्देशों के अनुसार होते हैं। वह न तो धन की चिन्ता करता है और न उससे प्राप्त सांसारिक सुख सुविधाओं की। नाम, यश एवं प्रसिद्धि प्राप्त करने का विचार उसके दिमाग में आता ही नहीं। उसके कार्य उसकी अपनी किसी इच्छा से नहीं संचालित होते। इन मापदण्डों के द्वारा मैंने लेखक को परखने की कोशिश की है और जहाँ तक मेरे निज का संबंध है, मैं पूर्णतया आश्वस्त हो चुका हूँ कि उपर्युक्त गुण उनमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।

जिन विषयों का वर्णन पुस्तक में किया गया है वे सभी साक्षात्कार की तड़प रखने वालों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिनका सबसे सजीव एवं उत्साहवर्द्धक रूप यह है कि हम उच्चतम उपलब्धियों को जीवनपर्यन्त एक गृहस्थ रह कर प्राप्त कर सकते हैं।

युगों से निरन्तर बताई गई इस बात से कि जब तक हम सन्यास न ले लें उच्चतर यौगिक उपलब्धियाँ असम्भव हैं, हमें बड़ा हतोत्साह होता है। वैराग्य—आध्यात्मिक जीवन के आवश्यक अंग—का लगभग हर क्षेत्र में सामान्य अर्थ सांसारिक बन्धनों को तोड़ने एवं धर्म-भिक्षु बनने का ही लगाया जाता है। वास्तव में यह ऐसा नहीं है। राजा जनक का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सभी दशाओं एवं परिस्थितियों में वैराग्य की स्थिति सम्भव है—यह समझने योग्य चीज है।

ईश्वर के संबंध में लेखक का विचार कि वह सब गुणों, शक्ति, क्रिया एवं उत्प्रेरणा-रहित परमशून्य है—शुद्ध एवं सरल सत्य की ओर एक साहसपूर्ण कदम है जो धर्म की परिधि के बाहर की चीज है। वास्तव में जैसा पुस्तक में बताया गया है 'धर्म मनुष्य के मुक्ति-मार्ग पर अग्रसर होने की तैयारी में प्रारंभिक स्थिति है।" मुक्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य आध्यात्मिकता का मार्ग अपनाता है। आध्यात्मिकता का सार और कुछ नहीं केवल उन सभी आवरणों (सीमाओं) को त्याग देना अथवा फेंक देना है जो आत्मा को बन्धन में रखने में सहायक होते हैं। वास्तविकता के प्रति लेखक का विचार अध्याय २ में चित्र के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। सबसे बाहरी परिधि हम लोगों की स्थूलतम स्थिति को प्रकट करती है जबकि केन्द्र अथवा परम आधार (शून्य) अंतिम लक्ष्य है। हम लोगों की यात्रा सब से बाहरी परिधि से केन्द्र की ओर सभी आध्यात्मिक अवस्थाओं से गुजरते हुए मानव पहुँच के अन्तिम छोर तक होती है।

अन्तिम अध्याय 'मेरी अन्तर्दृष्टि' में लेखक के भविष्य

विषयक विचार हैं। इसे एक ज्योतिषी की भविष्यवाणी मात्र नहीं समझनी चाहिए। पूर्णता की उच्चतम अवस्था को प्राप्त योगी प्रकृति के सीधे संपर्क में रहता है। इसलिए भूत अथवा भविष्य की हर चीज उसे उतनी ही स्पष्ट हो सकती है जैसी वर्त्तमान की। अपनी परोक्षदर्शी स्थिति में प्रकृति की सभी बातों का अध्ययन कर लेना उसके लिए सम्भव है।

मैंने इन पंक्तियों को इसलिए लिखा है कि पाठकों को इस पुस्तक का परिचय मिल सके जो आत्मसाक्षात्कार में दिलचस्पी रखने वालों के लिए, मेरा विश्वास है, अत्यन्त लाभप्रद है। अतः आध्यात्मिकता के प्रत्येक विद्यार्थी को मैं निःसंकोच इसके सूक्ष्म अध्ययन की संस्तुति करता हूँ।

न्यायमूर्ति
उच्च न्यायालय
इलाहाबाद

मिश्री लाल चतुर्वेदी

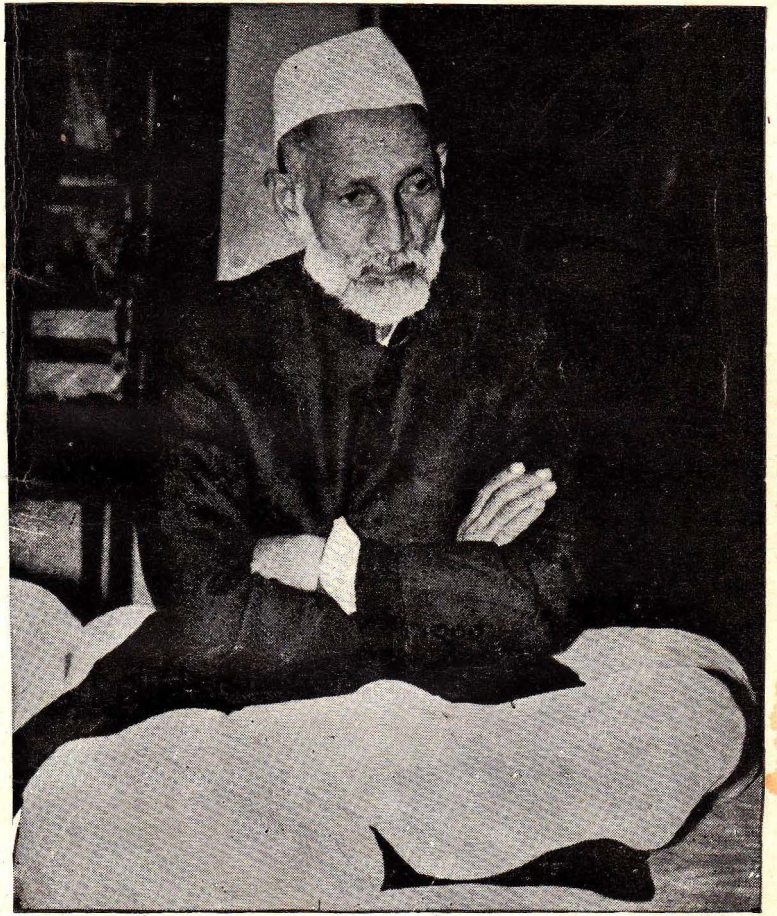

सद्गुरु महात्मा श्री रामचन्द्रजी महाराज
शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश

तृतीय संस्करण

प्रकाशकीय टिप्पणी

श्री रामचन्द्र मिशन के संस्थापक-अध्यक्ष परम पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज (बाबूजी) की अनुपम मूल कृति Reality at Dawn का यह परिष्कृत, परिवर्धित एवं सर्वथा नवीन, हिन्दी अनुवाद है।

हमें हर्ष है कि अनुवादक ने मूल पुस्तक की मौलिकता को प्रामाणिक एवं अक्षुण्ण बनाए रखने का सराहनीय प्रयत्न किया है।

हमें पूर्ण आशा है कि आध्यात्मिकता में रुचि रखने वाले हिन्दी जगत के जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

हम श्री लक्ष्मी शंकर, भूतपूर्व प्रिंसिपल, के०पी० यूनिवर्सिटी कालेज, इलाहाबाद, के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने इस नवीन अनुवाद को प्रस्तुत कर प्रकाशन विभाग की सहायता की है।

आशा है, पाठकगण इसे सहर्ष अपनाएँगे।

३०-४-८०

अधीक्षक
प्रकाशन विभाग,
श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर,
उत्तर प्रदेश

विषय-सूची

आमुख		क
अध्याय १	—धर्म	१
अध्याय २	—जीवन का लक्ष्य	१३
अध्याय ३	—साधन और उपाय	२१
अध्याय ४	—गुरु	३९
अध्याय ५	—आध्यात्मिक प्रशिक्षण	५८
अध्याय ६	—श्रद्धा	७३
अध्याय ७	—सतत स्मरण	८०
अध्याय ८	—आत्म-समर्पण	८८
अध्याय ९	—साक्षात्कार	९३
अध्याय १०	—मेरी अन्तर्दृष्टि	११०
अध्याय	—मिशन का चिह्न	११५

अध्याय १

धर्म

आदि काल से ही मानव-जाति की चेष्टा रही है—ईश्वरोपासना, वाह्यप्रतीतियों का रहस्योद्घाटन एवं मूलभूत तत्त्व को ग्रहण करना। यही धर्मोत्पत्ति का कारण है। उपासक की दृष्टि स्वर्ग के अक्षय आनन्द की ओर अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य विचार की ओर रहती है जिसे वह अपना अन्तिम लक्ष्य मान लेता है। फलस्वरूप, विश्व में अनेक धर्मों की उत्पत्ति हुई जिनके रूप एवं आचार संहिताएँ उनके महान् प्रवर्त्तकों के निजी अनुभवों पर आधृत रहे। परन्तु आज सहस्रों वर्ष के बाद भी जबकि संपूर्ण वातावरण परिवर्तित हो गया है एवं जीवन-क्रम में आमूल परिवर्तन आ गया है, उन्हीं रूपों को अपनाया जा रहा है। धर्म का बाह्य रूप ही सांगोपांग रह गया है और आंतरिक सत्त्व समाप्त हो गया है। इसका फल यह है कि धर्म-यान अत्यन्त जीर्ण हो गया है और यह कहना अनुचित न होगा कि वर्तमान धर्म भूतकाल का केवल अवशिष्ट मात्र अथवा मृतकों की अस्थियों की भाँति ही रह गया है। हमने वास्तव में सच्चे धर्म को कब्र में दफना दिया है। हम धर्म के नाम पर तालियां बजाने के अलावा और कुछ नहीं करते हैं। धर्म की सही आत्मा खो चुकी है और उसके स्थान पर केवल औपचारिकता ही रह गई है। अब केवल बाह्य रूप और कर्मकाण्ड ही हमारी दृष्टि के सामने रह जाते हैं और हम उन्हें ही अत्यधिक कट्टरता एवं हठ द्वारा पकड़े रहते हैं जिनमें सत्य (वास्तविकता) का स्पर्श

भी नहीं रहता। इस प्रकार, सत्य (वास्तविकता) में हमारा विश्वास घट कर लुप्त प्राय सा हो गया है। यह केवल विभिन्न रूपों तथा आडम्बरों में ही विकृत हो जाता है। क्रमशः इसका पतन धर्मान्धता अथवा पक्षपात में हो जाता है जो दुर्भाग्यवश आधुनिक धर्म का स्थायी लक्षण हो गया है। औपचारिकता के प्रति हमारा अंधविश्वास हमें वास्तविकता के सम्बन्ध में अँधेरे में डाले रहता है और अज्ञात रूप से हम अपने अन्दर उन लोगों के प्रति घृणा बढ़ा लेते हैं जो दूसरे रूपों एवं कर्मकाण्डों में विश्वास करते हैं। इसी के फलस्वरूप विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में विद्वेष एवं कलह है।

भारत ने यद्यपि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है किन्तु आत्म-स्वातन्त्र्य अथवा आत्मा की स्वतन्त्रता की अभी कमी है। उदार दृष्टिकोण एवं स्वतन्त्र चिन्तन की योग्यता का अभाव इसमें प्रमुख बाधा है। संपूर्ण वातावरण पक्षपात एवं प्रतिद्वन्द्विता से आप्लावित है। समाज तथा संस्कृति का संपूर्ण ढांचा उसी आधार पर स्थित है। साम्प्रदायिक विद्वेष हमारी सभ्यता के पतन का मूल कारण है। आज भारत में तीन हजार से कम जातियाँ नहीं हैं और प्रत्येक की अपनी अलग इकाई है। प्रारम्भ में ये जातियाँ श्रम के वर्गीकरण को सुलझाने के लिए श्रमिकों एवं शिल्पियों के विभिन्न संघों के रूप में संगठित की गई थीं। किन्तु आज प्रत्येक संघ अपने को शेष समाज से अलग कर लेने का प्रयत्न करता है और एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में रहकर दूसरों के प्रति घृणा एवं ईर्ष्या का भाव रखता है। इस प्रकार संपूर्ण समाज विघटन की ओर अग्रसर हो रहा है। वह समय निकट ही है जब इस दुर्गुण की शीघ्र ही समाप्ति हो जायेगी। प्रकृति इस दोष को समाप्त

करने के लिए कार्यशील है। कालचक्र से कोई बच नहीं सकता। जाति-विद्वेष के कोरे प्रचारकों एवं सहायकों को इसे चेतावनी के रूप में लेना चाहिए। यदि वे समय रहते अपने को सुधार नहीं लेते तो वे उसके दुष्परिणाम से नहीं बच सकते। ईश्वर की इच्छा पूर्ण होकर ही रहेगी। पक्षपात सबसे बड़ा दोष है। आध्यात्मिक जीवन के लिए तो सबसे घातक विष है। यह व्यक्ति को अपने तक ही सीमित कर देता है जिससे वह व्यापक दृष्टि-कोण के सभी साधनों को खो बैठता है। यह संकीर्णता उत्पन्न करता है और जो लोग इससे चिपटे रहते हैं उनकी उन्नति एवं विकास की संभावनाएं विनष्ट हो जाती हैं। पक्षपात से दूसरों के प्रति घृणा उत्पन्न होती है और यह प्रच्छन्न रूप में अपने झूठे बड़प्पन की भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि हम इस दोष को पालते हैं तो अहंकार की वर्तमान जंजीर में एक और कड़ी जोड़ लेते हैं। फलतः हम सत्य से दूर हो जाते हैं। असीम की उपलब्धि तो इस प्रकार और भी असंभव हो जाती है। धर्म के मूलाधार, विश्वप्रेम, के सर्वथा विलुप्त हो जाने पर वही धर्म जो सामान्यतया ईश्वर और मनुष्य के बीच एक कड़ी माना जाता रहा है अब एक बाधा बन गया है। यदि हम किसी रूप अथवा क्रिया की असली महत्ता एवं अन्तिम पहुँच को समझे बिना उससे अपने को बांधे रहें तो यह कदाचित् हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। ईश्वर किसी धर्म-विशेष या सम्प्रदाय के बाड़े में नहीं मिलता। यह कतिपय रूप एवं कर्मकाण्डों में ही सीमित नहीं है, न वह शास्त्रों के पठन मात्र में ही खोजा जा सकता है। उसे तो हमें अपने हृदय के अन्तस्तल में ही खोजना पड़ेगा।

ईश्वर के प्रति विभिन्न प्रकार की धारणायें हैं। लोग अपनी समझ और योग्यता के अनुसार उसे विभिन्न प्रकार से देखते हैं।

ईश्वर संबंधी सबसे व्यापक स्वीकृत धारणा शाश्वत शक्ति के रूप में है, किन्तु दार्शनिक विचार इससे भी आगे जाता है और निर्गुण ब्रह्म की कल्पना करता है जो हर प्रकार की विभिन्नताओं एवं विशेषताओं से परे है। वही सृष्टि का मूल कारण एवं चरम आधार है। वही समस्त बाह्य जगत् का चरम क्रियाशील केन्द्र अथवा चरम आधार है। वह गुण, चेतनता और गति के परे है। उसी को परब्रह्म भी कहा जाता है। फिर, ईश्वर की धारणा चरम सत्ता रूप में की जाती है। हम सृष्टि को उसकी समस्त विभिन्नताओं एवं भेदों सहित देखते हैं और हमें इसके निर्माता एवं नियन्ता में विश्वास होने लगता है। उसको हम ईश्वर अथवा सगुण ब्रह्म कहते हैं। उसे हम निराकार शाश्वत सत्ता समझते हैं जो सर्वशक्तिमान, सर्वद्रष्टा एवं सभी सद्गुणों से परिपूर्ण है। वह संसार का असली कारण है और वही उसका पालन एवं संहार करने वाला भी है। जब हम इस निम्नस्तरीय दृष्टिकोण से ईश्वर (धर्म के ईश्वर) को देखते हैं तभी वह उपासना की वस्तु हो जाता है और वही लगभग सभी धर्मों का अंतिम साध्य हो जाता है। अभी ईश्वर की कल्पना निराकार पर कुछ गुणों का आरोपण करके की गई थी, किन्तु जनसाधारण के लिए यह कल्पना समझ सकना भी कठिन है। इसलिए वे एक अपेक्षाकृत सरल साधन की प्राप्ति के प्रयत्नस्वरूप ईश्वर के इससे भी स्थूलतर आकार की कल्पना करते हैं। अतः कुछ लोग उसे सबसे ऊँचे आसमान पर आसीन मानते हैं जहाँ से वह सभी के लिए न्याय एवं दया वितरित करता रहता है। कुछ अन्य लोग उसे सब वस्तुओं में निहित सृष्टि का नियंत्रण करने वाली एक शक्ति मानते हैं।

इस प्रकार क्रमशः हम लोग उस निरूप अथवा निराकार से

हटकर किसी स्थूल अथवा साकार रूप की ओर धीरे-धीरे बढ़ते चले जाते हैं। धर्म-ग्रन्थों में इन दो धारणाओं, निराकार अथवा साकार, के विषय में बहुत कुछ कहा गया है, परन्तु दोनों ही धारणायें, वास्तव में अत्यन्त भ्रामक हैं। वस्तुतः ईश्वर न तो निराकार है और न साकार वरन् दोनों से परे है। जो उसे साकार मानते हैं वे असीम को रूप और आकार में मानों सीमित करना चाहते हैं। परिणामतः उनमें संकीर्णता उत्पन्न हो जाती है और वे सदा के लिए उन्हीं सीमाओं में बद्ध रहते हैं। यदि हम उसे निराकार मानते हैं तो भी हमारे मन में उसके सर्जक, नियंत्रक और संहारक आदि विशेषणों द्वारा सीमित किया हुआ बिंब ही उपस्थित होता है। यहाँ तक कि शक्ति या ऊर्जा के रूप में ईश्वर की परिकल्पना भी एक सीमित अवधारणा है। हम और आगे बढ़कर शून्य (Non-entity or Zero) की धारणा करते हैं; फिर भी हम एक प्रकार से सत्य से अभी दूर हैं। फिर वह है क्या? वाणी उसे व्यक्त करने में असफल है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि यदि हम उन दोनों कल्पनाओं से सचमुच दूर रहें तो कम से कम अपने को ठीक दिशा की ओर उन्मुख मान सकते हैं। जब तक हम धर्म की सीमाओं में आबद्ध रहते हैं, धर्म का ही ईश्वर हमारी दृष्टि में रहता है और हम एक या दूसरे दृष्टिकोण में ही उलझे रहते हैं। आध्यात्मिकता की उच्चतम अवस्था तभी संभव है जब हम इनसे परे जाते हैं।

वस्तुतः धर्म जहाँ समाप्त होता है वहीं से आध्यात्मिकता प्रारंभ होती है। मोक्ष-मार्ग पर मनुष्य की यात्रा की तैयारी के लिए धर्म केवल एक प्रारंभिक अवस्था मात्र है। जब उसने उस मार्ग पर चरण रख दिये तो वह धर्म के बन्धनों से परे हो जाता

है। धर्म का अस्त ही आध्यात्मिकता का उदय है, आध्यात्मिकता का अस्त सत्य का उदय है तथा सत्य का अस्त ही यथार्थ आनन्द है। किन्तु जब वह भी समाप्त हो जाता है तब हम लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। यही उच्चतम स्थिति है जिसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

विभिन्न देवी-देवताओं की अनेक रूपों में पूजा उसी साकार सिद्धान्त का स्थूल रूप है। प्रकृति की प्रत्येक शक्ति—यहाँ तक कि पर्वतों, नदियों एवं वृक्षों की पूजा उसी विचारधारा का और भी निचला रूप है। कितने खेद का विषय है! मालिक की पूजा छोड़कर और उसे सर्वथा भुलाकर हम नौकरों को पूज रहे हैं और अपने निश्चित पक्षपातपूर्ण विचार के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते। परिणामतः आज हम अनेक वर्ग एवं मत-मतान्तर पाते हैं जो विभिन्न देवी-देवताओं को अपने विशिष्ट ढंग से पूज रहे हैं। स्पष्टतः उनका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति न होकर केवल किसी कष्ट-विशेष से छुटकारा पाना अथवा किसी भौतिक लाभ की प्राप्ति होता है। लोग इस प्रकार की पूजाओं में या तो परिस्थितिवश अथवा ऐसे लोगों के गलत मार्ग प्रदर्शन द्वारा जो स्वयं ही आत्म-साक्षात्कार विषयक बातों में अंधेरे में हैं, फँस जाते हैं। श्री कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कर दिया है कि देवताओं की उपासना हमें अधिक से अधिक केवल उनके लोक तक ही ले जा सकती है जो सर्वथा सीमित है और मोक्ष से बहुत नीचे है। उन देवताओं में स्वयं उससे आगे जाने की क्षमता नहीं है। इसलिए उनके उपासक का उससे परे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः यह स्पष्ट है कि यदि हम सचमुच सत्य को अपना लक्ष्य बनाते हैं तो ये देवी-देवता हमारे लिए किसी काम के नहीं हैं। मैंने यह विषय अपनी पुस्तक—"राजयोग

का दिव्य दर्शन' (Efficacy of Rajyoga) में अधिक स्पष्ट कर दिया है।

सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए देवी-देवताओं की ओर दौड़ने वाले लोगों द्वारा साधारणतः ग्रहण की हुई यन्त्रवत् पूजा एक दूसरी बड़ी भूल है। यह तो कोई पूजा ही नहीं है। वास्तव में वे तो श्रमिकों की भाँति हैं जो अपने दिन भर के शारीरिक परिश्रम के पश्चात् अपनी मजदूरी पा जाते हैं। ईश्वर का स्थूल रूप जिसका वे चिन्तन किया करते हैं और बड़ी श्रद्धा एवं विश्वास से जिसको पूजते हैं उनमें स्थूलता उत्पन्न कर देता है और यदि यह क्रिया निरन्तर अधिक दिनों तक की जाय तो वे और भी अधिक ठोस हो जाते हैं, जिससे सत्य की प्राप्ति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे विषयों का परिणाम लगभग सभी के सम्मुख स्पष्ट है। प्राचीन महर्षियों ने निराकार ब्रह्म की उपासना आरम्भ करना जन-साधारण के लिए कठिन समझ कर उनकी उन्नति के लिए कुछ सरल साधन बना दिये थे। वे किसी ठोस रूप को लेकर, जिसे जन-साधारण आसानी से समझ सके, पूजा आरम्भ कराते थे। सरलता से समझ में आने वाली ये वस्तुएँ विभिन्न स्तर के लोगों के लिए विभिन्न होती थीं। निम्नतम स्तर के लोगों के लिए उन्होंने किसी स्थूल रूप के आश्रय का विधान किया और कुछ अधिक जागरूक लोगों के लिए तेजस्, या प्रकाश जैसे किसी अपेक्षाकृत् सूक्ष्म रूप के आश्रय का। अत्यन्त विकसित मस्तिष्क वालों के लिए ईश्वर की सूक्ष्म धारणा ही पर्याप्त थी। अतः निम्नतम स्तर के लोगों के लिए ही उन्होंने चित्र अथवा मूर्ति जैसे स्थूल रूपों की उपासना का विधान किया था और वह भी केवल अस्थायी रूप से ही। जब ये लोग कुछ उन्नति कर लेते थे तो उसे छोड़ देते

थे और एक सूक्ष्म रूप को लेकर आगे की दूसरी अवस्था पर पहुँच जाते थे। यह वैसे ही है जैसे किसी बच्चे को लिखना सिखाने के लिए छपे हुए अक्षरों पर कलम चलाना बताया जाता है। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद यह तरीका छोड़ दिया जाता है और बच्चा स्वयं बिना छपे हुए अक्षरों की सहायता से स्वतन्त्र रूप से लिखने लगता है। अतः स्थूल रूप अथवा मूर्ति, कुछ ही समय के लिए, आरम्भ करने वालों के लिए थी। उसके कुछ समय पश्चात् वे अगली अवस्था पर पहुँच जाते थे। इसके अतिरिक्त पूजा के लिए स्थापित मूर्ति आध्यात्मिक शक्ति से पूर्णतया संचारित रहती थी जिससे उसके-निकट पूजा अथवा भक्ति की भावना से बैठने वाले उसमें से सतत विकिरण द्वारा कुछ अंश प्राप्त कर लेते थे। अब ऐसे समर्थ पुरुष जो मूर्ति में आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर सकते हों, बिरले ही हैं, यद्यपि प्राण-प्रतिष्ठा की रीति अभी तक, केवल औपचारिक रूप से, चली आ रही है। फलस्वरूप, वे स्थान और मूर्तियाँ जो सहस्रों वर्ष पूर्व उद्दीप्त कर दिये गये थे इस समय तक लगभग सभी प्रभाव खो बैठे हैं जिससे भक्ति और पूजा के लिए जाने वालों को कोई क्रियात्मक लाभ नहीं होता है। फिर भी, इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं कि यह उपाय केवल उन्हीं लोगों के लिए अपनाया गया था जो निम्नतम कोटि के थे तथा बुद्धि की निम्नता के कारण अन्य किसी भी प्रकार ईश्वर से भक्ति नहीं कर पाते थे। पर यह तो सत्य ही है कि यदि कोई यही साधन बिना कुछ सोचे-समझे अन्त तक अपनाए जाये तो निरर्थक होगा और उससे कोई आध्यात्मिक लाभ संभव नहीं। संत कबीर ने कितनी सुन्दरता

से यह विचार निम्न पंक्तियों में रखा है—

पाहन पूजे हरि मिले, तो पूजिये पहाड़ ।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार ॥

मेरे विचार से जो लोग इस प्रकार की पूजा में जीवन भर चिपके रहते हैं वे अनीश्वरता के गहरे कीचड़ में ही फँसे रहते हैं। उन्हें उसमें से निकालना अत्यन्त कठिन है। कुछ समय के सतत अभ्यास से वे इसमें इतना अधिक जकड़ जाते हैं कि किसी भी अवस्था में उससे मुक्त होने के लिए सोच भी नहीं सकते। वे इसी में निश्चल पड़े रहते हैं। जो विचार उन्होंने पहले से अपना लिये हैं उनसे अलग होना भी वे नहीं चाहते। यही नहीं, वे अपनी विचार-शक्ति लगाकर उन्हें सुदृढ़तर और स्थूलतर बना देते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने अनुरूप ही प्रतिबिम्ब डालती है। यदि वस्तु सूक्ष्म है तो उसकी प्रतिच्छाया भी सूक्ष्म होगी और यदि वस्तु स्थूल है तो छाया भी स्थूल होगी। यदि हम ठोस वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करें तो निश्चय ही हम अन्दर से स्थूल हो जायेंगे। उन गुरुओं ने जिन्होंने पवित्र पुस्तकों को स्थूल रूप से पढ़कर अबोध जनता को सब कुछ ज्यों का त्यों समझा दिया—सब से बड़ा अत्याचार किया है। यह मस्तिष्क की मननशीलता विनष्ट कर देती है। यदि कोई व्यक्ति ऐसी भयानक अवस्था उत्पन्न कर लेता है तो वह सदा के लिए विनष्ट हो जाता है। वह विस्तृत दृष्टिकोण खो बैठता है और आगे उन्नति करने की क्षमता भी समाप्त हो जाती है। ऐसे लोगों की तुलना कुएँ के मेढकों से की जा सकती है जिनका कार्य-क्षेत्र संकुचित होता है किन्तु जिसे वे पूर्ण एवं पर्याप्त समझते हैं। वे चारों ओर से घिरे हुए बन्द क्षेत्र में चक्कर काटा करते हैं। वे आजीवन एक ही वस्तु पर सिर धुना करते हैं। देवताओं की कथाओं एवं उनके दृष्टान्त को ही वे पर्याप्त एवं सब कुछ समझते

हैं। जब यह अभ्यास दीर्घकाल तक चलता रहता है तो मस्तिष्क के कोष प्रभावित हो जाते हैं और वे उन विचारों से भर जाते हैं जो दिन प्रतिदिन दृढ़तर होते जाते हैं। अन्ततः संपूर्ण स्नायु-संस्थान प्रभावित हो जाता है। बाह्य स्थूलता धीरे-धीरे अन्दर प्रवेश करती है और अपना पूरा असर दिखाती है। वे इस प्रकार बाह्यान्तर से दुर्भेद्य होकर दैवी प्रकाश के मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं। उनकी अन्तरात्मा तक की पहुँच पूर्णतः रुक जाती है। मैं उन्हें जीवित पाषाण कहना पसन्द करूँगा। इस प्रकार वे अपने ऊपर जो कड़ी पर्तें निर्मित कर लेते हैं वे उन्हें किसी भी उच्च अथवा सूक्ष्म बातों के सम्पर्क में आने से रोकती हैं। वे इसके प्रभावों से मन्त्र-मुग्ध से रहते हैं और उसे एक आध्यात्मिक अवस्था समझते हैं यद्यपि वे वास्तव में उससे बहुत दूर हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में अपने व्यक्तिगत अनुभव से मुझे पता चला है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए मेरे पास आने वाले ऐसे लोगों के हृदयों की कठोर पर्तों को जिन्हें उन्होंने इस प्रकार के अभ्यास से निर्मित कर लिया है, तोड़ना काफी कठिन एवं जटिल कार्य है। यदि कोई अपने को आत्मा के इन बन्धनों से मुक्त करना चाहता है तो उसे स्थूलता एवं ठोसता की उन पर्तों को अवश्य ही हटाना होगा जो इन विवेकहीन अभ्यासों के कारण उसके मस्तिष्क पर जम गई हैं।

उपासना का दूसरा स्वरूप जिसे साधारणतः अधिक श्रेष्ठ माना गया है अपने आराध्य देवी-देवता के गुण-गान के भजन एवं सामूहिक कीर्तन का है। लोग समुदायों में एकत्र होकर रात्रि में देर तक उच्च स्वर के सामूहिक कीर्तन से शान्तिमय वातावरण को भंग करते हैं। वे सोचते हैं कि इस प्रकार ईश्वर का पवित्र नाम यथासंभव अधिक से अधिक लोगों के कानों में भर

कर वे अपना पुनीत कर्तव्य-पालन कर रहे हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी वे लोग आवाज फैलाने के लिए लाउडस्पीकर का भी प्रयोग करते हैं। दूसरों को, जिन्हें दिन भर के परिश्रम के बाद अथवा बीमारी के कारण शान्तिपूर्ण विश्राम की आवश्यकता है, इससे कितना कष्ट एवं असुविधा हो सकती है, इसका उन्हें बिलकुल ध्यान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त जो लोग रात्रि के शान्त एवं गम्भीर क्षणों में ध्यान की साधना करते हैं उन्हें इससे अधिक बाधा पहुँच सकती है। इसके अतिरिक्त आजकल किये जाने वाले इस उपाय से हमें आध्यात्मिक उन्नति करने में कोई बड़ी सफलता नहीं मिलती और इसलिये इससे कोई बड़ा लाभ नहीं होता। संकीर्तन करने वालों का गायन-वादन वास्तव में उस बीमार मनुष्य के कराहने के समान है जिससे उसको क्षणिक सान्त्वना तो मिल जाती है किन्तु वास्तविक दुःख-दर्द दूर नहीं होता। इसलिए यह गायन-वादन उनके किसी अर्थ का नहीं सिवाय इसके कि उस मधुर संगीत के प्रभाव से वे मुग्ध हो जाते हैं और उस समय के लिए उनका विचार उनके आदर्श अथवा लक्ष्य की ओर खिच जाता है।

हम जो कुछ भी सोचते-विचारते या मनन करते हैं उससे हमारे अन्तर में कम्पन (Vibrations) उत्पन्न होते हैं। जब ये कम्पन बढ़ते हैं तो शक्ति पैदा करते हैं जो ध्वनि के साथ बाहर फूट पड़ती है। ये कम्पन अपने साथ व्यक्तियों के विचार तथा भावनाओं के प्रभाव लिये रहते हैं। अतः शुद्ध-हृदय पुरुषों के संपर्क का पवित्र प्रभाव अशुद्ध व्यक्तियों के बुरे प्रभाव से नष्ट तक हो सकता है। इसलिए यदि इन क्रियाओं से पूर्ण लाभ उठाना हो तो अवांछित तत्वों को दूर ही रखना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु अपने संकीर्तन में ऐसे ही लोगों को रखते थे

जिनकी सच्चरित्रता एवं शुद्धता से वे पूर्णरूपेण परिचित थे। अतः वे संकीर्तन बन्द स्थान में ही करते थे। उसमें कोई बाहरी व्यक्ति नहीं सम्मिलित हो पाता था। संकीर्तन वस्तुतः प्रारम्भिक प्रगति में सहायक नहीं होता। काफी उन्नति के पश्चात् इससे केवल कुछ लाभ हो सकता है। केवल पवित्र विचारों से आप्लावित अनुकूल वातावरण में करने पर यह अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। गम्भीर मानसिक क्रियाओं के पश्चात् यह एक मनोरंजनकारी परिवर्तन का कार्य भी कर सकता है।

आजकल, दुर्भाग्यवश, इन क्रियाओं का लक्ष्य भी उच्चतम नहीं। अधिकांशतः ऐसे साधक देवताओं के भौतिक रूप और स्थूल शरीर एवं क्रियाओं के निकटतम सम्पर्क में निरन्तर बने रहते हैं। इस स्थूल धारणा का प्रभाव आन्तरिक स्थूलता एवं अपारदर्शकता के अतिरिक्त कुछ नहीं होता जिसे वे ऐसे साधन क्रम में अपने अन्दर भरते रहते हैं। एक स्थूल धारणा हमें निश्चय ही सीमाओं एवं बन्धनों में बाँध देती है जिससे अन्तिम पहुँच या पूर्ण मुक्ति कभी संभव नहीं हो सकती। यही कारण है कि वर्षों की साधना होते हुए भी वे अपने को आध्यात्मिकता के निम्नतम स्तर पर ही पहुँचा पाते हैं। वे संभवतः सभी कुछ एक सड़ते हुए कुण्ड में खोजना चाहते हैं जहां जीवन धारण के लिए नितान्त आवश्यक प्राणवायु तक नहीं है। उन्होंने ऐसे कुण्ड को अपना स्थायी निवास बना रखा है। मोती के निर्माण के लिए उचित प्रकाश की आवश्यकता होती है। बन्धनों से पूर्ण मुक्ति पाने के लिए हमें सूक्ष्मतम और शुद्धतम बनने का प्रयत्न करना चाहिए जो सर्वथा ईश्वरीय गुण है और साथ ही साथ उससे पूर्ण तादात्म्य स्थापित किये हुए है। वास्तविक जीवन का अमृत केवल उसके ही लिये है जो अपने को तत्सम्बन्धी वांछित स्तर पर ला सके।

अध्याय २

जीवन का लक्ष्य

जन साधारण में कदाचित् थोड़े ही ऐसे लोग होंगे जिन्होंने कभी जीवन की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक मनन किया हो। साधारणतया वे इसका बड़ा संकुचित अर्थ लेते हैं। उनके समक्ष वांछित सुखों से पूर्ण एक अच्छी जीविका की प्राप्ति ही एकमात्र समस्या है। दूसरे शब्दों में उनके जीवन का उद्देश्य संसार में केवल अधिकाधिक सुख एवं महत्ता प्राप्त करना है। यदि वे इनकी प्राप्ति में समर्थ हो जाते हैं तो वे अपने जीवन को सफल मानते हैं अन्यथा नहीं। वे दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा राजनीतिज्ञ तथा महान पुरुष होकर विश्व-व्यापी यश एवं धन प्राप्त कर सकते हैं, पर उनके जीवन की समस्या फिर भी उलझी ही रहती है। मृत्यु के साथ भी यह समस्या समाप्त नहीं हो जाती है मृत्यु तो केवल रूप का परिवर्तन मात्र है। हमारा आगामी जीवन जैसा भी हो, मृत्यु के उपरान्त प्रारम्भ होता है। वर्तमान जीवन के पूर्व जिस प्रकार हम विभिन्न रूपों में अगणित जीवन जी चुके हैं उसी प्रकार हमारी मृत्यु के पश्चात् भी हमारे अनेक अन्य जीवन हो सकते हैं। जन्म और मृत्यु का चक्र अनिश्चित अवधि तक चलता रहता है। हमारे सामने समस्या केवल अपने वर्तमान जीवन के हल की नहीं वरन् सभी भावी जीवनों के हल की है। विस्तृत अर्थ में यह (समस्या) आत्मा के संपूर्ण अस्तित्व से संबधित है—उसके अनेक स्थूल अथवा सूक्ष्म रूपों से, जो वह

भिन्न-भिन्न समय पर महाप्रलय काल तक धारण करती रहती है।

जन्म-मरण के प्रश्न पर विभिन्न धर्मावलंबियों में मतभेद हो सकता है परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि केवल धर्मशास्त्रों का कोरा ज्ञान इस समस्या का हल नहीं कर सकता। इसके लिये तो आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रियात्मक अनुभव आवश्यक है। इसका हल तभी संभव है जब मनुष्य एक सुन्दरतम अथवा सूक्ष्मतम प्रकार की अनुभव शक्ति (संवेदन-शक्ति) प्राप्त करके स्वयं इस जीवन से परे के जीवन की वास्तविक अवस्था का अनुभव प्राप्त कर सके। इस रहस्य को लोग बहुधा विभिन्न प्रकार से समझाते हैं, पर इस बात पर लगभग सभी सहमत हैं कि मृत्यु के उपरान्त शाश्वत आनन्द पाना ही जीवन का ध्येय है। इसके लिए वे सद्गुण, त्याग एवं भक्ति से पूर्ण जीवन पर बल देते हैं जिससे वे स्वर्ग के चिरस्थायी सुख अथवा निर्वाण या शान्ति की प्राप्ति कर सकें। लेकिन इससे समस्या का अन्त नहीं होता। समस्या काफी आगे बढ़ती है। अतः इस समस्या का हल ढूढ़ने के लिए हमें फिर उस बिन्दु विशेष की ओर देखना चाहिए जहां से हमारा अस्तित्व प्रारंभ हुआ है। वर्तमान स्थूलतम रूप का हमारा यह अस्तित्व न तो आकस्मिक है और न किसी घटनावश प्राप्त हुआ है, वरन् विकास की मन्दगति का परिणाम है। आत्मा का अस्तित्व सृष्टि के निर्माणकाल से समझा जा सकता है जब वह अपने नग्नरूप में एक अलग इकाई थी। आत्मा के अस्तित्व की उस प्राथमिक सूक्ष्मतम अवस्था से हम क्रमशः अस्तित्व के स्थूलतर रूपों की ओर बढ़ते गये। इन्हें हम आत्मा के ऊपर के आवरण कह सकते हैं। प्रारंभिक आवरण अत्यन्त सूक्ष्म थे और उनके साथ हम अपने (वास्तविक) घर, ईश्वरीय प्रदेश में थे। अहं के अधिक से अधिक आवरण

निरंतर बढ़ते गये और फिर मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार के मोटे रूप हमारी स्थूलता में योग देने लगे। फिर, संस्कारों का बनना आरंभ हो गया और उनका प्रभाव भी होने लगा। पुण्य एवं पाप भी प्रकट होने लगे। हमारे अस्तित्व ने शनैः शनैः सघनतम रूप धारण कर लिया। इन संस्कारों का प्रभाव है सुख दुःख एवं शोक की भावनाओं की उत्पत्ति। सुख एवं आनन्द के प्रति हमारे राग तथा दुःखों एवं कष्टों के प्रति हमारी अरुचियों ने और भी अधिक उलझनें उत्पन्न कर दीं। हम साधारणतः अपने को दुःख एवं दर्द से घिरा पाते हैं और उनसे छुटकारा पाना ही हम अपना लक्ष्य समझने लगते हैं। समस्या के प्रति यह तो एक बड़ा संकुचित दृष्टिकोण है।

सांसारिक उपलब्धियों को ही जीवन का उद्देश्य मान लेना नितान्त निरर्थक है। हम भूल जाते हैं कि दुःख और दर्द किसी रोग के लक्षण मात्र हैं जबकि रोग कहीं अन्यत्र है। सांसारिक सुख एवं सम्मान की प्राप्ति के लिए ईश्वर को भक्ति द्वारा प्रसन्न करने का अभ्यास तो केवल एक विडम्बना है। हमारे सामने समस्या दुःख दर्दों से केवल छुटकारा ही पाने की नहीं, वरन् उस बंधन से छुटकारा पाने की भी है जो सभी दुःख दर्दों का मूल कारण हैं। बंधन से छुटकारा पाना ही मोक्ष (Liberation) है। यह मुक्ति (Salvation) से भिन्न है! मुक्ति से पुनर्जन्म के क्रम का अन्त नहीं होता। मुक्ति तो जन्म-मरण चक्र में केवल एक अल्पकालिक विराम है। मुक्ति में जन्म और मरण के चक्र की गति कुछ निश्चित समय के लिये स्थगित हो जाती है और तदुपरान्त हम पुनः स्थूल रूप धारण कर लेते हैं। पुनर्जन्म का अनन्त चक्र तभी समाप्त होता है जब हम मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। मोक्ष हमारे सभी दुःख-दर्दों का अन्त है। मोक्ष से नीची

कोई भी अवस्था ध्येय के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती यद्यपि इसके पार भी बहुत कुछ शेष रह जाता है। हमें ऐसे लोग भी थोड़े ही मिलते हैं जिन्होंने मोक्ष को भी —जो आध्यात्मिक नसैनी का केवल प्रथम सोपान मात्र है—अपना अन्तिम लक्ष्य मान रखा है। यदि हम इस स्तर से नीचे रहते हैं तो जीवन की समस्या बिलकुल उलझी रहती है। ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि उन्हें मोक्ष नहीं चाहिए। वे तो इस संसार में बारम्बार आने की इच्छा करते हैं केवल भक्ति करने के लिए। उनके जीवन का लक्ष्य अनिश्चित एवं अस्थिर रहता है। उनके कथनानुसार उनका लक्ष्य भक्ति से परे कुछ भी नहीं है। वास्तव में वे लोग भक्ति की दशा के मनोहर प्रभाव से आकर्षित हो जाते हैं और सदा के लिए उसी दशा में बने रहना चाहते हैं। वे अपने आपको केवल प्रसन्न रखने के लिए ही ऐसा करते हैं। शाश्वत बंधन से मुक्त होना तब तक संभव नहीं जब तक हम उलझनों में फँसे हुए हैं। बंधन से मुक्त होना आत्मा की स्वाभाविक उत्कंठा है। यदि कोई व्यक्ति उन उलझनों से मुक्त नहीं होना चाहता तो उसके लिए कोई समाधान नहीं है। भक्ति स्वयं लक्ष्य नहीं वरन् लक्ष्य-प्राप्ति का एक साधन है। वास्तविक बात तो यह है, जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि वे लोग प्रारंभिक अवस्था के मनोहर प्रभाव से ही इतने लुब्ध हो जाते हैं कि इसे किसी समय भी छोड़ना नहीं चाहते। उनका यह संकीर्ण दृष्टिकोण किसी भी विस्तृत विचार को अपनाने में रोक लगा देता है और उससे परे की कोई भी वस्तु उनकी दृष्टि में नहीं आती।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के पक्ष में एक अन्य भ्रान्तिपूर्ण तर्क दिया जाता है कि भक्ति यदि किसी उद्देश्य विशेष के लिए

की जाती है तो वह निष्काम होने से कोसों दूर होती है। गीता में वर्णित "निष्काम उपासना" का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि हम किसी उद्देश्य विशेष को दृष्टि में रखकर भक्ति न करें। वास्तव में इसका अर्थ यह है कि हम लोगों को बिना किसी सांसारिक उद्देश्य को दृष्टि में रखे हुए अथवा बिना अपनी इच्छाओं की पूर्ति की चिन्ता किये भक्ति करनी चाहिए। भक्ति, जीवन के लक्ष्य पर हमारे ध्यान को केन्द्रित करने से, जो कि साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, नहीं रोकती। जीवन के लक्ष्य का अर्थ और कुछ नहीं केवल उस बिन्दु से है जहाँ हमें अन्ततोगत्वा पहुँचना है। दूसरे शब्दों में, यह हमारी मातृभूमि की याद है अथवा हमारे वर्तमान स्थूल अस्तित्व की प्रारम्भिक अवस्था है जहाँ हमें अन्त में लौटना है। केवल ध्येय का विचार हम अपने मस्तिष्क में बनाए रहते हैं और उसी के लिए केवल कर्त्तव्य के रूप में हम भक्ति की साधना करते हैं। कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करना ही निःसन्देह निष्काम कर्म है और जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना ही हमारा ध्रुव कर्त्तव्य है।

अब मैं इस विषय पर आता हूँ कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या होना चाहिए। साधारणतया यह माना जाता है कि लक्ष्य उच्चतम होना चाहिए अन्यथा अन्तिम अवस्था तक पहुँचना संभव न हो सकेगा। इसके लिए मनुष्य के पहुँच की उच्चतम अवस्था को स्पष्ट रूप में समझ लेना आवश्यक है। हमारे समक्ष राम और कृष्ण, ईश्वर के दो अवतारों के उदाहरण हैं। हम उनको श्रद्धा एवं भक्ति से पूजते हैं और उनके साथ ऐक्य स्थापित करना चाहते हैं। वही हमारे जीवन का स्वतः लक्ष्य हो जाता है और ऐसा करके हम अधिक से अधिक उनके

स्तर तक पहुँच सकते हैं। राम और कृष्ण अवतार के रूप में विशिष्ट पुरुष थे जिनमें अलौकिक शक्तियाँ थीं। वे माध्यम रूप से प्रकृति के आदेशानुसार प्रकृति के कार्य-संपादन के लिए आये थे। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार था, जिनको वे किसी भी समय, जैसा वे उचित समझते, प्रयोग में ला सकते थे। प्रकृति के दिये हुए कार्य के अनुसार ही उनके कार्य का क्षेत्र सीमित था। वे महामाया के मण्डल से आये थे जो ईश्वरीय शक्ति की सूक्ष्म अवस्था है, और इसी कारण अत्यन्त शक्तिशाली थे। इसीलिए वे अपने जीवन काल में इतने अलौकिक कार्यों का संपादन कर सके। मनुष्य की पहुँच का उच्चतम बिन्दु महामाया के भी मण्डल से बहुत आगे है; इसलिए वह अवतारों के स्तर से बहुत ऊपर है। अधिकांश पाठकों को इससे आश्चर्य हो सकता है परन्तु निःसन्देह यथार्थ यही है। मनुष्य की पहुँच का चरम बिन्दु वहाँ है जहाँ सब प्रकार के वेग, शक्ति, क्रिया अथवा प्रेरणा तक भी अदृश्य हो जाती है और मनुष्य पूर्णतया अभाव अथवा शून्य की स्थिति में पहुँच जाता है। वही पहुँच का चरम बिन्दु अथवा जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मैंने इसे चित्र द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। केन्द्र के चारों ओर खिचे हुए वृत्त मामूली तौर से उन विभिन्न आध्यात्मिक क्षेत्रों को प्रदर्शित करते हैं जो हमें अपनी प्रगति में पार करने पड़ते हैं। सब से बाहर के वृत्त से अपनी यात्रा प्रारंभ करके हम हर वृत्त को पार कर अपने आगे के क्षेत्रों में प्रवेश करते हुए केन्द्र की ओर बढ़ते जाते हैं। यह एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र है। यदि मैं मोक्ष की बात करूँ तो लोग इसे बहुत दूर की वस्तु समझेंगे जो कई जन्मों के सतत प्रयत्नों से प्राप्त हो सकती है। चित्र में मोक्ष की अवस्था दूसरे और तीसरे वृत्त के बीच

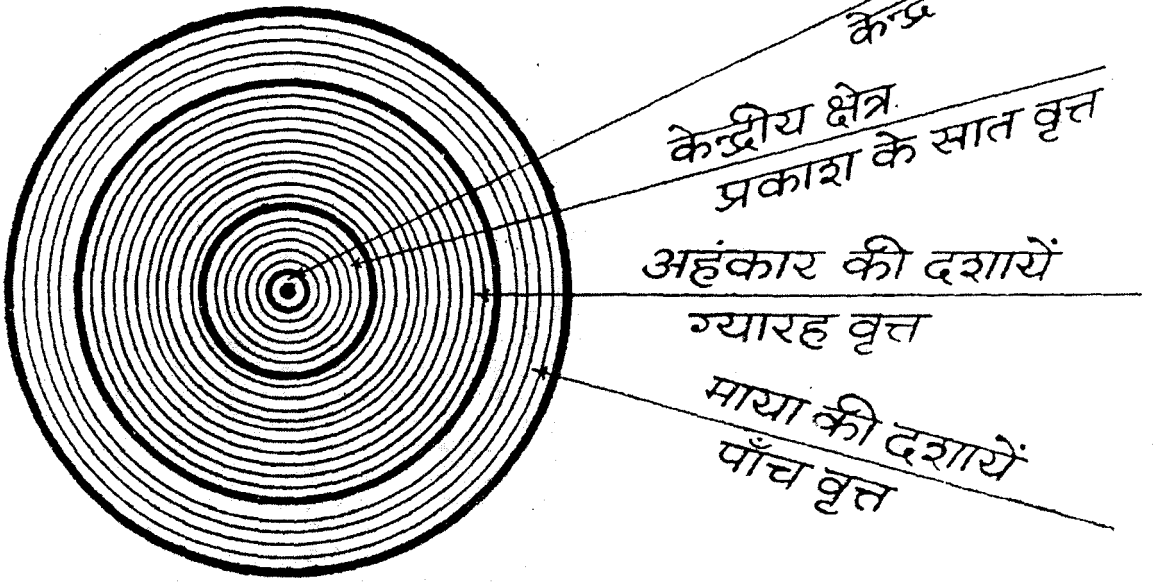
केन्द्र
केन्द्रीय क्षेत्र
प्रकाश के सात वृत्त
अहंकार की दशायें
ग्यारह वृत्त
माया की दशायें
पाँच वृत्त

की है। मोक्ष प्राप्ति के लिए जितनी अवस्थाएँ पार करनी पड़ती हैं वे सब डेढ़ वृत्त में ही पूरी हो जाती हैं। इससे पाठक को इसका एक साधारण आभास मिल जायेगा कि मोक्ष बिन्दु तक पहुँचने के बाद भी कितना और अधिक पाना शेष रह जाता है। मोक्ष बिन्दु तक पहुँचना भी, जैसा साधारणतया विश्वास किया जाता है, सचमुच कोई साधारण बात नहीं है। इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् हम और वृत्त पार करते जाते हैं यहाँ तक कि हम पाँचवाँ पार कर लेते हैं। यह अव्यक्त गति की अवस्था है। इस अवस्था पर मनुष्य माया के बन्धनों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। भूत काल के बहुत कम ऋषि इस अवस्था तक पहुँच सके थे। राजा जनक उनमें से एक थे जो इस अवस्था तक पहुँच सके थे। उनकी उपलब्धियाँ इतनी अधिक महान् मानी जाती थीं कि उस काल के प्रमुख ऋषिगण तक अपने पुत्रों और शिष्यों को प्रशिक्षण के लिये उनके पास भेजा करते थे। मेरी पुस्तक 'राजयोग का दिव्य दर्शन, (Efficacy of Rajyoga) में वर्णित हृदय मंडल अब पार हो जाता है और हम पाँचवाँ वृत्त पार कर मानस मण्डल में पहुँचते हैं। उसके आगे के ग्यारह वृत्त अहंकार की विभिन्न अवस्थाएँ प्रदर्शित करते हैं। वहाँ की दशा सूक्ष्मतर है और ज्यों-ज्यों हम उस मण्डल में आगे बढ़ते जाते हैं वह और भी शुद्धतर होती जाती है। हम सोलहवें वृत्त तक पहुँचते पहुँचते अहंकार से लगभग मुक्त हो जाते हैं। इस अवस्था की दशा लगभग अविज्ञेय सी है और बड़े से बड़े ऋषियों में से बिरला ही कोई इसे प्राप्त कर सका है। जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, प्राचीन ऋषियों में कबीर के अतिरिक्त अन्य कोई ही सोलहवें वृत्त की उस दशा तक पहुँच सका है। जब हम इस वृत्त को पार कर

लेते हैं तब हमारा अस्तित्व केवल एक आभास (Identity) मात्र रह जाता है जो फिर भी स्थूल रूप में है। अब हम केन्द्र मण्डल में प्रविष्ट होते हैं। वहाँ भी हमें किसी वस्तु के सात वृत्त मिलते हैं, जिसे मैं समझाने के लिए प्रकाश कह सकता हूँ। और आगे बढ़ने के लिए हमें उन्हें पार करना होता है। जिसे मैं अस्तित्व के आभास का स्थूल रूप कह चुका हूँ, अब अपनी अन्तिम सीमा तक शुद्धतर एवं सूक्ष्मतर होता जाता है। अब हमने ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली है जो केन्द्र के निकटतम है, और यही मनुष्य की उच्चतम पहुंच है। वहाँ हम यथार्थ वास्तविक दशा से पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर लेते हैं। केन्द्र में, पूर्णतया लय हो जाना संभव नहीं है जिससे ब्रह्म और जीव में, नाममात्र का भेद बना रहे। मनुष्य की उपलब्धि की यही चरम सीमा है। यदि साक्षात्कार के पथ पर अधिकतम उन्नति करना है तो मनुष्य को प्रारंभ से ही उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। संसार के बहुत थोड़े संत और योगियों को ही इसके विषय में कभी कोई ज्ञान था। उनकी अधिकतम गति अधिकांशतः दूसरे या तीसरे वृत्त तक हुई थी और दुर्भाग्यवश इस प्रारंभिक अवस्था को ही कभी-कभी उन्होंने अपनी बहुत बड़ी उपलब्धि समझ लिया था। मैंने यह सब इसीलिए लिखा है जिससे लोग उन तथाकथित ईश्वर-तत्व-विशेषज्ञों (Doctors of Divinity) को परख सकें जिन्हें पूर्णत्व प्राप्त करने वाला कहा जाता है तथा जिनके बाहरी रूप-रंग एवं वैभव को ही देखकर मूढ़ जनता साधारणतः उन्हें वैसा ही मान बैठती है।

अध्याय ३

साधन और उपाय

अपना लक्ष्य निश्चित कर लेने के पश्चात् हमारे सम्मुख दूसरी समस्या उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधन खोजने की होती है। ऋषियों एवं आचार्यों ने इस विषय को विस्तृत रूप से लिया है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के अभ्यास अथवा साधन निर्धारित किए हैं जो उनके अपने अन्तिम लक्ष्य प्राप्त कराने में सहायक हो सकें। पर ईश्वर, जो अकल्पनीय, पूर्ण अथवा परब्रह्म है, की प्राप्ति के लिए हमें उन साधनों को अपनाना होगा जो हमें पूर्ण अनस्तित्व की ओर ले जाएं। हमारे जीवन का लक्ष्य, जिसकी पिछले अध्याय में व्याख्या की जा चुकी है, वह अन्तिम अवस्था है जहाँ हम अतिक्रियाशील केन्द्र अथवा शून्य के बहुत निकट पहुँच जाते हैं जो समस्त बाह्य सृष्टि का आदि-कारण है और जिसमें महाप्रलय के पश्चात् सब कुछ लीन हो जायेगा। इस दशा को पाने के लिए हमें स्वयं शून्य हो जाना पड़ेगा। निस्सन्देह, महाप्रलय के समय हम स्वभावतया उस केन्द्र-बिन्दु पर पहुँच जायेंगे; परन्तु हम इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उसे हम जितनी जल्दी हो सके प्राप्त कर लें, जिससे असंख्य जन्मों के दुःखों से हम अपने को बचा सकें। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु को अपने मूल स्रोत अर्थात् केन्द्र की वापसी के लिए अपना महाप्रलय अथवा पूर्ण विनाश आवश्यक है उसी प्रकार अपने केन्द्र की वापसी के लिए हमारा अपना प्रलय आवश्यक है अर्थात् हमें अपनी बनाई सभी वस्तुओं को पूर्ण विलयन की दशा

में लाना होगा। इसका अर्थ यह है कि हमको अपनी सभी वस्तुओं से मुक्त होना पड़ेगा और उसी नग्नावस्था को अपनाना होगा जिसमें हम लोग सृष्टि रचना के समय थे। हमारी वस्तुएँ संस्कारों के समूह हैं जिनके प्रभाव-वश उलझनें और विभिन्न आवरण उत्पन्न होते हैं जो हमारी आत्मा को ढके रहते हैं और जो हमारी अपनी ही क्रियाओं और विचारों के परिणाम हैं। हमारे पास मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियाँ हैं जो सभी सचेष्ट हैं। हमारा मस्तिष्क शरीर की क्रियाओं का संचालन करता है। हम देखते हैं, सुनते हैं, महसूस करते हैं और चीजों को समझते हैं। हम उन्हें पसन्द या नापसन्द करना प्रारंभ करते हैं। धीरे-धीरे इच्छाएं अन्दर प्रवेश करना आरम्भ करती हैं और हमारी क्रियाओं को प्रभावित करने लगती हैं। ये घेरे बढ़ते ही जाते हैं और हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। एक इच्छा पूर्ण हो जाने पर वह अपने स्थान पर सामान्यतः दूसरी इच्छा को जन्म देती है। हम कदाचित् क्षण भर के लिए भी उनसे मुक्त नहीं हो पाते। हम अधिकांश वस्तुओं को उनकी प्राप्ति के विचार से देखते हैं। ये इच्छाएं हमारी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को मोड़ती हैं और संस्कार निर्माण की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार आत्मा पर अधिक से अधिक आवरण बढ़ाती जाती हैं। प्रत्येक क्षण की नवीन इच्छाएँ एवं उनको पूर्ण करने के हमारे प्रयत्न उन्हें निरन्तर बढ़ाते चले जाते हैं। उनकी छाप हमारे कारण-शरीर पर तब तक पड़ी रहती है जब तक वे भोग की क्रिया द्वारा समाप्त न कर दिए जायें। प्रत्येक क्षण निर्मित होने वाले संपूर्ण संस्कारों का भोग साधारणतः पूरे जीवन में भोगा जाना सम्भव नहीं। फलतः जब हमारा जीवन समाप्त

होने को आता है तब भी हमारे अन्दर बहुत से संस्कार एकत्र रहते हैं। ये ही संस्कार हमारे पुनर्जन्म के कारण हो जाते हैं, जिससे उनके भोग की पूर्ति के लिए हमें एक अवसर मिल जाय; किन्तु, दुर्भाग्यवश, उनको समाप्त करने के बजाय हम भुक्त संस्कारों के स्थान पर उनसे कहीं अधिक संस्कार जोड़ देते हैं।

हमारे मार्ग में दूसरी गम्भीर बाधा हमारे दुःखों और आपत्तियों के कारण उत्पन्न होती है। संसार में लगभग प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखों की शिकायत करता है जिन्हें वह दूर करना चाहता है। किन्तु वह उचित साधनों की उपेक्षा कर देता है। वह इच्छाओं की पूर्ति को ही दुःखों के निराकरण का एकमात्र उपाय समझता है। किन्तु यह कोई हल नहीं है। साधारणतः दुःख घृणास्पद समझा जाता है किन्तु ऐसे भी सन्त हुए हैं जिन्होंने दुःखों को स्वेच्छा से अपनाया है और उन्हें वरदान मानकर ईश्वर से उनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है।

यदि हम दुःखों के मूल स्रोत का अवलोकन करें तो समस्या का रहस्य स्पष्ट हो जायेगा। ईश्वर को सृष्टि-रचना की इच्छा के परिणाम-स्वरूप आत्मा में चेतनता आई। फिर आत्मा ने भी अपनी छोटी सृष्टि रचना आरम्भ कर दी और अपनी ही निर्मित वस्तुओं से अपने को घेर लिया। फिर एक स्पन्दन, एक गति (जिसे हम अस्थिरता अथवा चंचलता कह सकते हैं) सृष्टि के उद्भव का मूल कारण हुआ। इस प्रकार आत्मा की छोटी सी सृष्टि के लिए भी गति अथवा स्पन्दन अत्यन्त आवश्यक है। हममें भी इच्छा की शक्ति है जिसे हम इस छोटी सृष्टि को बनाने वाले आवश्यक साधनों को शक्ति प्रदान करने में लगाते हैं। वह हमारे सम्मुख हर्ष, शोक, सुख अथवा दुःख के रूप में प्रकट होती है। मन भी निरन्तर क्रियाशील रहने के कारण

हममें एक के लिए इच्छा तथा दूसरे के लिए अनिच्छा उत्पन्न कर देता है जिससे एक ही वस्तु के दोनों सिरे प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इस ढंग से दुःखों का जन्म होने लगता है। ये सब मनुष्य के मन की उपज हैं जो वस्तुओं के उचित संबंधों के प्रति हमारी अज्ञानता के परिणामस्वरूप हैं। हमारी वासनाएँ, भावनाएँ तथा उद्वेग भी आपत्तियों को बढ़ाने में बहुत मदद देते हैं और कभी-कभी इतने भयानक तूफान उठा देते हैं जिससे पूर्ण विनाश की संभावना हो जाती है। हम साधारणतया परिस्थितियों को इनका कारण बताते हैं पर यह गलत विचार है। मनुष्य के इस देहरूपी बाह्य विकास का केन्द्र मन है और प्रत्येक वस्तु जो इस देह के माध्यम से प्रदर्शित होती है वह भी उसी केन्द्र अर्थात् मन से ही होती है। यदि हमारा मन समभाव की स्थिति में आ जाय तो उस पर परिस्थितियों अथवा वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और उसमें कोई भी अस्थिरता न होगी। सभी परिस्थितियों में शान्ति एवं सौम्यता सदैव विराजती रहेगी। वासनाएँ, उत्तेजनाएँ एवं इच्छाएँ अपनी-अपनी तेजी खो बैठेंगी और शोक, हर्ष अथवा दुःख हमारी दृष्टि से ओझल हो जायेंगे। हमारी इच्छाएँ दुःखों के मूल कारण हैं। अतः दुःखों का एकमात्र हल इच्छाओं को कम करना ही है। इच्छाएँ जितनी ही कम होंगी उतने ही हमारे दुःख कम होंगे। परन्तु इच्छा विहीन हो जाना एक दूसरी समस्या है। जितना ही हम उससे निकलने का प्रयत्न करते हैं उतना ही जाल की डोरियाँ कसती जाती हैं। उलझनों से अपने आप को छुड़ाने का केवल एक यही उपाय है कि हम अपना ध्यान उनसे हटाकर अपनी दृष्टि केवल वास्तविक वस्तु पर ही लगा दें। यदि हम उनसे उदासीन रहने की आदत बना लें

तो वे शीघ्र हमारी दृष्टि से ओझल होना आरम्भ कर देंगी, और, फलस्वरूप हमारे दुःख भी कम हो जायेंगे। हमारी दृष्टि के सामने सतत वास्तविकता ही रह जायेगी और शेष प्रत्येक वस्तु अपना आकर्षण अथवा महत्व खो देगी।

जीवन में कष्टों और आपत्तियों का नितान्त अभाव अप्राकृतिक एवं असंभव है। वास्तव में, वे हमारी भलाई के लिए हैं। वे रोगी के स्वास्थ्य को सुधारने के लिए दवा की कड़वी गोलियों की भाँति हैं। सर्वोत्तम वस्तु का भी दुरुपयोग कष्ट का कारण हो जाता है। ऐसा ही दुःखों के साथ भी होता है। प्रत्येक वस्तु का उचित समय पर एवं उचित रूप से उपयोग अन्त में अवश्य ही सुन्दर परिणाम लाएगा। दुःख हमारा सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शक है जो हमारे पथ को सुगम बनाता है। एक साधारण स्तर के मनुष्य के आत्मोत्कर्ष के लिए आपत्तियाँ अत्यन्त सहायक होती है। सांसारिक जीवन के घरेलू सुख-दुःख की चर्चा करते हुए हमारे गुरु महाराज कहा करते थे "हमारा घर सहनशीलता एवं धैर्य का प्रशिक्षण-स्थल है। गृहस्थ जीवन के कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करना ही हमारे लिए महा तप है जो अन्य सब प्रकार के तपों से श्रेष्ठ है। अतः इन परिस्थितियों में क्रोध अथवा क्षोभ की भावना का शिकार न होकर हमें ऐसा भाव अपनाना चाहिए कि ये कष्ट स्वयं हमारे ही दोष के कारण हुए हैं और हमें ही इनको ठण्डे दिमाग से सहना होगा। कुछ लोगों के लिए जंगल का एकांतवास एवं दुनिया से किनाराकशी सहनशीलता एवं धैर्य पैदा करने का साधन हो सकते हैं परन्तु हमारे लिये तो मित्रों और संबंधियों की झिड़कियाँ और ताने सब से बड़ी तपस्या तथा सफलता की असंदिग्ध कुंजी हैं।" वास्तव में, कष्टों एवं आपत्तियों को शान्तिपूर्वक सहन

करना हमारी उन्नति में बहुत सहायक होता है। अतः ये हमारी प्रगति के लिए मूल्यवान रत्न हैं। हम केवल उनके दुरुपयोग से ही उनके प्रभाव को नष्ट कर देते हैं और उनके सर्वोत्तम लाभों से वंचित रह जाते हैं।

साक्षात्कार के लिए वैराग्य अथवा अनासक्ति निःसदेह एक आवश्यक स्थिति है और जब तक हम वैराग्य नहीं उत्पन्न कर लेते तब तक माया के जाल से कदापि नहीं छूट सकते। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम घर, परिवार और संसार के सभी संबंधों को तोड़ कर एक संन्यासी का जीवन अपना लें। मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जिनकी धारणा है कि वैराग्य पैदा करने के लिए घर, परिवार एवं सांसारिक संबंधों को त्याग कर कहीं एकान्तवास करना ही एकमात्र साधन है। ऐसे जबर्दस्ती के साधनों से किया हुआ त्याग शायद ही कभी सच्चा होता हो क्योंकि बहुत संभव है कि संसार से जबर्दस्ती त्याग के ऊपरी दिखावों के बावजूद भी वे आन्तरिक रूप से उससे चिपके रहते हों। निःसन्देह एक गृहस्थ के नाते हमें अनेक वस्तुओं की देख-भाल करनी पड़ती है। हमें अपने कुटुम्ब का पालन करना होता है, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करना होता है, उनके अभावों एवं आवश्यकताओं को देखना तथा उनको सर्दी-गर्मी, दुःख एवं रोग इत्यादि से बचाना होता है। इन सब आवश्यकताओं के लिए हम पैसा कमाते हैं और धन-सम्पत्ति रखते हैं। असली बुराई केवल अपनी वस्तुओं में हमारा अनावश्यक लगाव है। यही हमारे दुःखों का मूल कारण है। पर, यदि हम जीवन में हर कार्य बिना किसी राग अथवा विराग की भावना के, कर्त्तव्य समझ कर, कर सकें तो हम एक प्रकार से सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाते हैं और वास्तविक अर्थ में

संसार त्यागी हो जाते हैं फिर चाहे हम अनेक वस्तुओं के स्वामी होकर उनका उपयोग करते रहें। हमारी सभी वस्तुएँ, तब, ईश्वर-प्रदत्त कार्यों के संपादन के निमित्त मालिक द्वारा दी गयी पवित्र थाती के समान लगेंगी। वैराग्य का वास्तविक अर्थ है, सांसारिक वस्तुओं से अनासक्ति, न कि उनका त्याग। अतः गृहस्थ जीवन, जिसमें वस्तुओं का रखना तथा सांसारिक संबंध बनाना अनिवार्य है, वैराग्य एवं साक्षात्कार के लिए बाधक नहीं, यदि हम उन संबंधित वस्तुओं से अनावश्यक आसक्ति न रखें। संतों के ऐसे अगणित उदाहरण हैं जिन्होंने आजीवन गृहस्थ रहकर पूर्णता की उच्चतम अवस्था प्राप्त की है।

वैराग्य, वास्तव में एक अवस्था अथवा मन की एक अन्तर्दशा है जो हमें क्षणभंगुरता एवं परिवर्तनशीलता का ज्ञान कराती है और वस्तुओं के प्रति अनासक्ति की भावना उत्पन्न करती है। हमारी आँखें हर क्षण वास्तविकता (सत्य) पर लगी रहती हैं जो अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत है और हम आसक्ति और अनासक्ति के भाव से मुक्त हो जाते हैं। यह वैराग्य का वास्तविक अर्थ है। जब हम मन की यह अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तो हम इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं। तब हमको जो कुछ भी मिला है उसी से संतुष्ट रहते हैं। इच्छाओं का अन्त हो जाने का अर्थ है हमारे संस्कारों का बनना बन्द हो जाना। अब केवल पूर्व संचित संस्कारों का भोग ही शेष रह जाता है जिसको हमें अपने जीवन काल में समाप्त कर लेना है। प्रकृति भी भोग के लिए भूमि तैयार कर इस कार्य में हमारी सहायता करती है जिससे हमारे विचारों एवं क्रियाओं के संस्कार कारण-शरीर से हट जायें। जब ये आवरण नष्ट हो जाते हैं तब हम

अस्तित्व के सूक्ष्मतर रूप ग्रहण करना आरंभ करते हैं।

अपने विचार एवं क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिए हमें चंचल मन की, जो एक क्षण के लिए भी कभी स्थिर नहीं रहता, उचित कार्यशीलता की ओर ध्यान देना होगा। मैंने बहुधा धर्मोपदेशकों को मन के लिए कटु से कटु एवं बुरे से बुरे शब्दों का प्रयोग करते हुए तथा उसे मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु घोषित करते हुए सुना है। इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। वे इसे हमारे अन्दर की समस्त बुराइयों की जड़ मानते हैं और इसलिए वे लोगों को इसे कुचलने एवं इसके आदेशों को न मानने की सलाह देते हैं। लेकिन, लोग साधारणतः मन की विभिन्न क्रियाओं को नियन्त्रित करना अथवा उसके आदेशों की अवज्ञा करना एक बड़ा कठिन कार्य समझते हैं। अतः उनको थोथी राय एवं तत्सम्बन्धी भाषण लोगों के लिये अधिक लाभप्रद नहीं होते। उनके भाषण सुनने वालों में कोई भी व्यावहारिक ढंग से अपने ध्येय की पूर्ति नहीं कर सका है। इसके साथ ही, वर्त्तमान परिस्थितियाँ एवं वातावरण भी वैयक्तिक मन की सदा बढ़ती हुई क्रियाओं को और अधिक योग देते हैं। आज लगभग प्रत्येक व्यक्ति गरीबी, अरक्षा, आपत्ति एवं प्रतिद्वन्द्विता की कटु समस्याओं से जूझते हुए अपने जीवन को घोर संघर्षमय समझता है और उसे अपने आप को इसके प्रभाव से अछूता रख सकना लगभग असंभव हो जाता है। मन की अशान्ति एवं सतत अस्थिरता इसका परिणाम होती है। हम वातावरण से वही ग्रहण करते रहते हैं और इसलिए परिस्थितियों एवं वातावरण द्वारा बहक जाते हैं। हमारा वैयक्तिक मन वायु की दिशा बताने वाले पंख (Weather Cock) के समान हो गया है जो हवा के हर झोंके पर उसी दिशा में मुड़ जाता है। असली शुरु

तो वही है जो इन झोकों का साहसपूर्वक सामना करता है और अपने को इनके प्रभाव से मुक्त रखता है।

मैं निःसन्देह उन लोगों से सहमत हूँ जो कहते हैं कि प्रत्येक बुराई का स्रोत मन है और केवल वही उसके लिए उत्तरदायी है; यद्यपि, मैं साथ ही साथ, उन लोगों को यह भी चेता दूँ कि यह वही मन है जो हमें अच्छाई की ओर अग्रसर करता है और हमें उच्चतम आत्मज्ञान कराने में सहायक होता है। अतः मन से न केवल हर बुराई वरन हर अच्छाई भी आरंभ होती है। इसलिए जो लोग इसकी कटुतम शब्दों में भर्त्सना करते हैं, वे उसके साथ न्याय नहीं करते। यह वास्तव में मन को गलत ढंग से ढालने के ही कारण है और जिस बात की वास्तविक आवश्यकता है वह मन को कुचलने अथवा मारने की नहीं वरन केवल उसके उचित प्रशिक्षण की है। मन घड़ी के पेन्डुलम की भाँति है। जब तक पेन्डुलम की चाल व्यवस्थित एवं ठीक रहती है घड़ी ठीक चलती रहती है। यदि वह अव्यवस्थित हो जाय तो घड़ी बिगड़ जाती है। इसी प्रकार मानवीय घड़ी के लिए भी आवश्यक है कि मन की क्रियायें पूर्णरूपेण नियमित एवं व्यवस्थित रहें। मन को ढालने एवं उसकी क्रियाओं को नियमित करने के उपाय भी बहुत सरल हैं। वास्तव में हमने स्वयं अपने खाली क्षणों में मन को इधर उधर निरुद्देश्य भटकने के लिए छोड़कर बरबाद कर दिया है। यह क्रिया वर्षों तक रही और अब भटकना इसका दूसरा स्वभाव सा बन गया है। अब यदि हम मन को प्रतिबन्ध में रखकर नियंत्रित करना चाहें तो हमें बहुत कम सफलता मिलेगी। हम इसे जितना ही बलपूर्वक दबाने का प्रयत्न करते हैं उतना ही यह विपरीत प्रतिक्रिया करता और उछलता है जिससे और अधिक अशान्ति

उत्पन्न होती है। मन की क्रियाओं को नियंत्रित करने का उचित उपाय उसे किसी एक पवित्र विचार पर जमा देना (जैसा हम ध्यान में करते हैं) और उसमें से सभी अवांछित एवं अनुपयोगी वस्तुओं को निकाल देना है। कुछ दिनों के निरन्तर अभ्यास के पश्चात् मन नियमित एवं अनुशासित हो जाता है और अधिकांश आन्तरिक अशान्ति निकल जाती है। अवांछित विचारों से मुक्ति पाने का सर्वोत्तम उपाय है कि हम उन्हें अनिमंत्रित अतिथियों की भाँति माने और उनकी ओर ध्यान न दें। वे तब असिंचित पौधों की भांति मुरझा जायेंगे और अन्त में वही पवित्र विचार हमारे अन्दर स्थायी बन जाएगा। इस स्थिति की प्राप्ति का एक मात्र उपाय किसी योग्य शिक्षक के मार्गदर्शन में ध्यान करना है। ध्यान के निरन्तर अभ्यास से मन शान्त एवं स्थिर हो जायेगा और अवांछित विचार हमें त्रस्त नहीं करेंगे।

मैं बहुधा प्रारंभिक अभ्यासियों को ध्यान के समय मन के भटकते रहने के विषय में शिकायतें करते हुए सुनता हूँ। ध्यान आरंभ करने के प्रथम दिन से ही वे चाहते हैं कि उनका मन बिलकुल निश्चल हो जाय परन्तु जब वे विभिन्न भावों एवं विचारों को मन में मंडराते हुए पाते हैं तो वे अत्यन्त उद्विग्न हो जाते हैं। मैं उन्हें यह स्पष्ट कर दूं कि हम अपने अभ्यास में मन को पूर्णतः विचारहीन बनाने का नहीं अपितु उसकी विभिन्न क्रियाओं को केवल व्यवस्थित करने का प्रयास करते हैं। हम उसके स्वाभाविक कार्य को नहीं रोकना चाहते, केवल उसे व्यवस्थित एवं अनुशासित स्थिति में लाना चाहते हैं। यदि मन की क्रियायें आरंभ से ही रोक दी जायें तो हमें कदाचित् ध्यान करने की बिलकुल आवश्यकता ही न रह जाय।

ध्यान तो उसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए केवल साधन है। ध्यान ही समय के अन्तराल में सहज रूप से एकाग्रता (समाधि) में बदल जाता है। ध्यान करते समय मन में आने वाले बाह्य विचारों के प्रति सर्वथा उदासीन होकर ध्यान करना ही उचित तरीका है। अवांछित विचारों को दूर करने के लिए मानसिक द्वन्द्व बहुधा असफल हो जाता है। क्योंकि वह ऐसी बड़ी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है जिससे पार पाना साधारण मनुष्य के लिए बहुधा असंभव हो जाता है और जो कभी-कभी मानसिक उथल-पुथल अथवा पागलपन का कारण भी बन सकता है। यह उन लोगों के लिए संभव हो सकता है जिन्होंने ब्रह्मचर्य द्वारा विचारों के प्रवाह को सफलतापूर्वक सम्हालने तथा उनकी प्रतिक्रियाओं के प्रभावों को रोकने के लिए काफी ओजस् उत्पन्न कर लिया है। परन्तु साधारण मनुष्य के लिए यह लगभग असंभव है। यदि विचारों को दूर रखने के लिए संघर्ष करने के स्थान पर हम केवल उनके प्रति उदासीन रहें तो बहुत शीघ्र ही वे अपना प्रभाव खो देंगे और हमें क्षुब्ध करना बन्द कर देंगे। तब वे काफिले पर भूँकने वाले कुत्तों के समान होंगे जिनकी किंचित् मात्र परवाह किये बिना काफिला आगे बढ़ता जाता है।

आजकल कुछ लोगों के लिए एक आम बहाना यह हो गया है कि अत्यधिक व्यस्तता के कारण उन्हें ध्यान अथवा ऐसे किसी अभ्यास के लिए समय नहीं मिलता। किन्तु यह एक प्रसिद्ध उक्ति है कि अत्यधिक व्यस्त व्यक्ति के ही पास अत्यधिक अवकाश रहता है। मैं सोचता हूँ कि मनुष्य के पास उसके काम से कहीं अधिक समय रहता है। समय के अभाव की शिकायत केवल समय की गलत व्यवस्था के कारण ही है। यदि हम अपने समय का पूर्ण

सदुपयोग करें तो हमें समयाभाव की शिकायत करने का कभी अवसर न मिलेगा। फिर, कुछ और लोग हैं, जो थोड़े अधिक स्पष्टवादी हैं और स्वीकार करते हैं कि वे समयाभाव के कारण नहीं अपितु अपनी लापरवाही और आलस्य की दुस्तर आदतों के कारण पूजा के लिए समय नहीं निकाल पाते। उनके लिए मैं कहूँगा कि वे अपने व्यापार या व्यवसाय में तो शायद कभी लापरवाही या काहिली नहीं बरतते। उनमें तो वे अपनी सारी व्यक्तिगत असुविधाओं, यहाँ तक कि बीमारियों के बावजूद पूरे मनोयोग से जुटे रहते हैं; केवल इसलिए कि इससे उन्हें कुछ धन लाभ हो जाएगा। भौतिक लाभ की उत्कंठा उन्हें सभी असुविधाओं एवं व्याधियों से उदासीन रखती है। इसी प्रकार यदि लक्ष्य प्राप्ति की हमारी लगन तीव्र है तो हमारी लापरवाही एवं काहिली हमारे प्रयास अथवा उन्नति के मार्ग में बाधक नहीं हो सकती। यदि हम प्राचीन ऋषियों के इतिहास पढ़ें तो हमें ज्ञात होगा कि उन्होंने वास्तविकता की प्राप्ति के लिए जीवन के सभी सुखों का त्याग कर दिया था। वे त्याग एवं तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे और अपने परम प्रिय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हर प्रकार के दुःख एवं कष्ट सहते थे। लक्ष्य प्राप्ति की तीव्र लगन उन्हें अन्य सभी वस्तुओं से विमुख कर देती थी और वे मार्ग में आने वाली कठिनाइयों एवं विषमताओं की परवाह किये बिना अपने पथ पर दृढ़ रहते थे। ध्येय प्राप्ति के लिए ऐसी तीव्र लगन एवं दृढ़ संकल्प पूर्ण सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मै आपको विश्वास दिला दूँ कि आप आध्यात्मिक क्षेत्र में महान उन्नति कर सकते हैं यदि आप केवल अपना ध्यान ईश्वर की ओर केन्द्रित करके संकल्प, विश्वास व श्रद्धा के साथ आगे बढ़ें, फिर चाहे आप गृहस्थ जीवन के सभी

झंझटों और तकलीफों से घिरे हुए कितनी भी विपरीत दशा में क्यों न रह रहे हों। आपका व्यस्त जीवन तब आप के मार्ग में कोई बाधा न डालेगा।

साधारणतः लोग अपने को असली वस्तु की प्राप्ति के लिए अत्यन्त कमजोर एवं अयोग्य सोचकर ईश्वर की ओर झिझक के साथ बढ़ते हैं। पहले ही कदम पर किया गया और अंत तक साथ रहने वाला दृढ़ संकल्प निश्चय ही आपको पूर्ण सफलता प्रदान करेगा। इस क्षेत्र में यदि कोई दृढ़ मन से प्रवेश करता है तो समझ लीजिए कि आधा रास्ता तय हो गया। सारी कठिनाई और निराशा एक ही निगाह में पिघल जाएगी और सफलता की राह सरल हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि मन आरंभ में ही दुविधाग्रस्त होता है तो प्रयत्न भी आधे दिल से किये जाते हैं। और परिणामतः आंशिक सफलता या असफलता ही हाथ लगती है। यदि हममें दृढ़ संकल्प-शक्ति है तो न जाने किन अज्ञात स्रोतों से शक्ति आकर हमारी कार्य सिद्धि में सहायता प्रदान करती है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर वर्धमान उत्कंठा या बेचैनी से युक्त दृढ़ संकल्प हमारे प्रयत्नों की शक्ति को बढ़ा देगा और इस प्रकार हम अपनी आध्यात्मिक भलाई एवं उन्नति के लिए मिलने वाले हर इशारे को समझते हुए उसी वास्तविकता के सतत संपर्क में रहेंगे। इस प्रकार अल्पतम संभावित समय में लक्ष्य तक पहुँच सकने की बेसब्री अथवा सतत बेचैनी ही हमारी शीघ्र सफलता में योग देने वाली सर्वप्रमुख वस्तु है। जब तक हम अपना वास्तविक ध्येय, शाश्वत शान्ति एवं स्थिरता न प्राप्त कर लें, हमें एक क्षण के लिए भी चैन न लेना चाहिए। किसी वस्तु के लिए तीव्र चाह स्वभावतः उसके लिए एक बेचैनी उत्पन्न कर देती है। और, जब तक हम अपनी चाही हुई वस्तु

को न पा लें हमें शान्ति नहीं मिलती। इसलिए यह बेचैनी एक बहुत आवश्यक वस्तु है और जिस किसी प्रकार भी हो उसे पैदा करना चाहिए। अतः शाश्वत शान्ति प्राप्त करने के लिए प्रारंभिक दशा में हम अपने अन्दर बेचैनी एवं अस्थिरता उत्पन्न करते हैं। आपको आश्चर्य हो सकता है कि मैं आपसे उसी वस्तु (बेचैनी) को उत्पन्न करने की बात करता हूँ जिसे लोग दूर करना चाहते हैं। परन्तु निश्चित एवं शीघ्र सफलता के लिए एकमात्र यही रास्ता है। इस प्रकार से उत्पन्न की गई बेचैनी अस्थायी होती है और मन में सामान्यतः उत्पन्न होने वाली बेचैनी से भिन्न होती है। यह अधिक सूक्ष्म एवं अधिक आनन्ददायक होती है। यह हमारे हृदय में दैवी प्रवाह का स्रोत खोल देती है और ईश्वरीय मण्डल में जाने के लिए हमारा मार्ग सुगम बना देती है। यदि आप किसी मनुष्य को पानी में डुबाने लगें तो आप देखेंगे कि वह आपके शिकंजे से छूटने के लिए अथक प्रयत्न करता है। इसका कारण केवल यही है कि पानी से शीघ्र निकलने की उसकी बेचैनी उसके प्रयत्नों की शक्ति बढ़ा देती है और जब तक वह पानी से बाहर नहीं हो जाता है उसे चैन नहीं आता। उसी प्रकार शीघ्र ही लक्ष्य तक पहुँचने की बेचैनी में से उत्पन्न होने वाले अथक प्रयत्नों से साक्षात्कार की राह पर हमारे कदम और भी तेज हो जाएँगे और हम कम से कम समय में सरलतापूर्वक सफलता के द्वार तक पहुँच जाएँगे। शीघ्र सफलता का यही सबसे सरल और सुन्दर उपाय है।

मेरे सहयोगी मुझसे बहुधा अपने अन्दर इस प्रकार की बेचैनी उत्पन्न करने की विधि पूछते हैं। मैं उन्हें कहूँगा कि लक्ष्य के प्रति तीव्र प्रेम उन्हें स्वयं ही उस तक पहुँचा देगा। जब हम गहरे प्यार में होते हैं तो प्रेमास्पद की सन्निकटता प्राप्त करने

के लिए स्वभावतः बेचैन हो जाते हैं। जब हम संसार की किसी वस्तु को अत्यधिक प्यार करते हैं तो उसका ध्यान हमारे मन में बार-बार आता है और हम उसे बार-बार सोचा करते हैं। हृदय में ईश्वरीय प्रेम उत्पन्न करने के लिए हमें इस तरीके को केवल उलट देना पड़ेगा। यदि हम ईश्वर को बार-बार अथवा दिन के अधिकांश भाग में याद किया करें तो हम स्वतः उसके प्रति प्रेम का अनुभव करने लगेंगे, और यदि इस प्रेम को लगन पूर्वक बनाये रखेंगे तो हमारे हृदय में धीरे-धीरे बेचैनी भी पैदा हो जाएगी। ईश्वर से प्रेम बढ़ाने का दूसरा उपाय उसके प्रति प्रेमी का भाव दर्शाने में है मानों हम एक नाटक कर रहे हों। परन्तु यह केवल उनके लिए है जो सूक्ष्म साधनों के सर्वथा अयोग्य हैं। यह उपाय यद्यपि बनावटी है पर यह शीघ्र ही हमें वास्तविकता के निकट पहुँचा देगा और हमारे हृदय को सच्चे प्रेम एवं बेचैनी के भावों से आन्दोलित करना आरंभ कर देगा।

साक्षात्कार के लिए सब से महत्वपूर्ण बात अपनी स्वयं की योग्यता एवं सफलता प्राप्ति की शक्ति में आत्म-विश्वास है। एक क्षण के लिए भी यह सोचना असंगत होगा कि हम पूर्णता की उस उच्चतम अवस्था को जिसे अब तक प्राचीन काल के महानतम ऋषिगण भी कभी प्राप्त कर सकें हों, प्राप्त करने के लिए अत्यन्त शक्तिहीन एवं अयोग्य हैं। हमें बाधाओं एवं कठिनाइयों की परवाह न कर एक वीर सैनिक की भाँति साक्षात्कार के पथ पर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ बढ़ते जाना चाहिए। निराशा एवं उत्साह-हीनता हमारी इच्छा-शक्ति को कमजोर तथा हमारी दृढ़ता को छिन्न-भिन्न कर देती है। हमें वीर हृदय से बाधाओं को झेलना चाहिए तथा निराशा की भावना को, जो

आध्यात्मिक जीवन के लिए सबसे बड़ी त्रुटि एवं घातक विष है, अपने अन्दर कदापि न लाना चाहिए।

आध्यात्मिक खोज में लगे हुए मनुष्य की उन्नति के लिए समभाव एक आवश्यक गुण है। यह एक अत्यन्त व्यापक शब्द है और मानव व्यापार के सभी पक्षों को अपने भीतर समेट लेता है। इसका अर्थ है सभी चित्त वृत्तियों का संतुलन अर्थात् किसी कार्य विशेष के लिए जो कुछ भी तत्कालीन परिस्थितियों में सहज रूप से आवश्यक हो उससे कुछ भी कम या अधिक न करके हम वही करें और उसकी किंचिन्मात्र छाप हमारे मन पर न पड़े। आजकल साधारणतया लगभग सभी जगह यह समभाव हमें डगमगाया दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे सामने जो भी चीज आती है उसे हम अनावश्यक रूप से महत्व देने लगते हैं और उसे अपनी विचार शक्ति द्वारा पुष्ट करते रहते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वह अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक दृढ़ हो जाती है। हम यही आदत बना लेते हैं और अपनी विचार शक्ति को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर न्यूनाधिक प्रगाढ़ता के साथ लगाते रहते हैं। अशान्ति और मानसिक द्वन्द्व के अतिरिक्त इसका अन्य कुछ परिणाम नहीं होता और यही हमारे सभी कष्टों एवं यातनाओं का मूल कारण है। जब तक समभाव और संतुलन पुनः स्थापित न हो जाय, साक्षात्कार सम्भव नहीं। समभाव की यह स्थिति सृष्टि रचना के समय की वास्तविक अवस्था से (जब सब कुछ पूर्णतया संतुलित अवस्था में था) बिलकुल मिलती-जुलती है। सृष्टि रचना के बाद जैसे-जैसे समय बीतने लगा, खराबियाँ आने लगीं। हमारी शक्तियाँ एवं अनुभूतियाँ संतुलन खो बैठीं और प्रत्येक वस्तु अव्यवस्थित हो गयी। उनमें पुनः संतुलन लाने के लिए अब हमें अपनी चित्त-वृत्तियों

को नियंत्रित करना होगा। संतुलन लाने के लिए हमें जीवन के आचरण पक्ष पर भी विशेष ध्यान देना होगा, जैसे, शिष्ट और नम्रवचन, शीलयुक्त व्यवहार, सहयोगियों के प्रति प्रेम एवं सहानुभूति, बड़ों के प्रति आदर, प्रतिशोधहीन स्वभाव, आदि। ये आदतें हमारे निर्माण में बहुत सहायक होती हैं। समभाव प्रकृति का स्वाभाविक गुण है। यदि हम पूर्ण समभाव प्राप्त कर लें तो, हम एक अर्थ में, प्रकृति के अनुरूप हो जाते हैं, और यही आध्यात्मिकता का सार है।

अन्त में, सफलता का सब से महत्वपूर्ण एवं अमोघ साधन प्रार्थना है। यह ईश्वर से हमारा संबंध जोड़ देती है जिसके प्रति हम अपने को प्रेम एवं भक्ति से समर्पण कर देते हैं। प्रार्थना के समय हम उसके सामने एक अकिंचन दास की भाँति विनम्रतापूर्वक खड़े होते हैं और अपनी वास्तविक दशा बताकर अपने को बिलकुल उसकी इच्छा पर छोड़ देते हैं। प्रार्थना का यही विशुद्धरूप है। एक सच्चे भक्त की भाँति हमें भी मालिक की इच्छा में ही संतोष मानना चाहिए। नितान्त आवश्यक आवश्यकताओं की भी पूर्ति न हो सकने के कारण मन के अत्यंत उद्विग्न और अशांत हो जाने जैसी असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर छोटे-मोटे सांसारिक लाभों के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना मूर्खता है। हमें सदैव केवल सर्वशक्तिमान् एवं सर्वद्रष्टा सर्वोच्च मालिक की प्रार्थना, अपने मन को उसके प्रति प्रेम एवं विनय में पूर्णरूपेण डुबाकर तथा अपने को भी सर्वथा भुलाकर, करनी चाहिए। यही प्रार्थना करने का सही तरीका है जो शायद ही कभी निष्फल होता हो। मैंने इस विषय को अपनी पुस्तक "सहज मार्ग के दस उसूलों की शरह" (Commentary on Ten

Commandments of Sahaj Marg) में और भी विशद रूप में लिखा है।

अन्ततोगत्वा, आपके मन में, मैं यह भी डाल देना चाहता हूँ कि लक्ष्य प्राप्ति के लिए विभिन्न तरीके एवं साधनाएं हैं। वे आपको वास्तविकता के मार्ग पर कुछ दूर ले जा सकते हैं, लेकिन कितनी दूर ?—मैं यहाँ व्याख्या करना नहीं चाहता हूँ, उसे पाठकों के ही निर्णय एवं अनुभव पर छोड़ देता हूँ। लेकिन मैं आपको निश्चित रूप से विश्वास दिलाता हूँ कि केवल राजयोग ही आप को अन्तिम गन्तव्य तक अथवा मानव पहुँच के अन्तिम बिन्दु तक ले जा सकता है जहाँ आप अपने पूर्ण एवं विशुद्ध रूप को प्राप्त कर प्रकृति के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर लेते हैं। कोई अन्य तरीका या साधन ऐसा फल नहीं दे सकता। इसलिए, यदि आपका ध्येय उच्चतम बिन्दु तक पहुँचना है तो इस विज्ञान का सहारा लेना आवश्यक है। इसके लिए एक सच्चे एवं योग्य मार्ग-दर्शक की सहायता अनिवार्य है, पर साथ ही आजकल उसे पाना एक गम्भीर समस्या भी है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि एक सच्चा खोज करने वाला उसे पा लेने में कभी विफल न होगा।

अध्याय ४

गुरु

अपने सुनिश्चित लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के उचित साधनों का विचार कर लेने के पश्चात् हमारा दूसरा कर्त्तव्य एक ऐसे योग्य पथ-प्रदर्शक को पाना हो जाता है जो हमें साक्षात्कार के पथ पर सफलता पूर्वक ले चल सके। सभी विषयों में (सांसारिक उपलब्धियों से संबंधित भी) हमें एक सुयोग्य पथ-प्रदर्शक की सहायता की आवश्यकता होती है। यह हो सकता है कि कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् हम स्वयं अपने प्रयास से आगे बढ़ सकें। पर, फिर भी, हमें प्राचीन आचार्यों के अनुभवों पर, जो उनकी पुस्तकों एवं रचनाओं में संगृहीत है, निर्भर रहना पड़ता है। आध्यात्मिकता में बात उलटी है। जैसे जैसे हम आगे बढ़ते जाते हैं तथा अधिक ऊँची अवस्थाएँ प्राप्त करते जाते हैं, गुरु की आवश्यकता बढ़ती ही जाती है। पुस्तकें वहाँ हमारे किसी काम की नहीं। वे हमें चीजों का ऊपरी ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकती हैं जिससे हम आध्यात्मिक विषयों पर ओजस्वी भाषण दे सकें तथा तर्क में विजयी हो सकें, लेकिन केवल उन्हीं के द्वारा आध्यात्मिकता में व्यावहारिक पहुँच असंभव है। पुस्तकीय ज्ञान पर आश्रित यौगिक क्रियायें एवं साधनाएँ अधिकतर भ्रामक होती हैं तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए हानिकारक भी होती हैं। केवल एक सुयोग्य पथ-प्रदर्शक की सहायता ही हमको लक्ष्य तक ले जा सकती है। फारस के प्रसिद्ध कवि एवं आध्यात्मिकता पर अठारह ग्रंथों के रचयिता

मौलाना रुम के विषय में कहा जाता है कि एक बार वे एक बड़े सन्त के पास आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए गये तो सन्त ने उनसे कहा कि यदि वे उनसे व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहते हैं तो अपनी सारी पुस्तकें नदी में फेंक दें इस पर वे तैयार नहीं हुए, क्योंकि उसका अर्थ होता जीवन भर के परिश्रम का विनाश। वे कई बार उस संत के पास वही प्रार्थना लेकर गये पर उन्हें वही उत्तर मिला। कोई अन्य उपाय न देखकर उन्होंने अन्त में सन्त की बात मान ली और अपने सारे ग्रंथ नदी में फेंक कर उनके शिष्य हो गये। सच्चा साक्षात्कार साधना क्षेत्र में प्रशिक्षण लेने के पश्चात् ही प्राप्त होता है और उसके लिए पाण्डित्य अथवा ज्ञान अधिक सहायक नहीं होता।

अतः आध्यात्मिक खोज में लगे हुए व्यक्तियों के लिए गुरु की सहायता अनिवार्य एवं अपरिहार्य है। ऐसे भी उदाहरण हैं जब ऋषियों ने केवल आत्म-प्रयास के द्वारा सीधे ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण कर पूर्णता प्राप्त कर ली है। लेकिन ऐसे उदाहरण गिने-चुने हैं। वास्तव में यह अत्यन्त कठिन मार्ग है और केवल असाधारण प्रतिभा से विशेषतया संपन्न लोगों के ही लिए इस पर चलना संभव हो सकता है। गुरु ईश्वर और मनुष्य को जोड़ने वाली कड़ी है। उसी के माध्यम से हम ईश्वर तक पहुँच सकते हैं। केवल वही एक शक्ति है जो हमें रास्ते की उलझनों से निकाल सकती है।

आध्यात्मिक यात्रा में हमें विभिन्न बिन्दुओं से गुजरना पड़ता है जिन्हें चक्र या लाक्षणिक भाषा में कमल कहते हैं। वे मनुष्य को परम्परा से प्राप्त दैवी शक्ति अथवा वास्तविक शक्ति के पुंजीभूत शक्ति-केन्द्र हैं। वे मानव शरीर के भीतर

विभिन्न स्थानों पर स्थित हैं। दो बिन्दुओं के बीच में असंख्य सूक्ष्म तन्तुओं का बना घना जाल है। हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, इन विभिन्न तहों की गुत्थियों से हमें गुजरना पड़ता है। हमें वहाँ भोग की पूर्ति के लिए काफी समय तक रुकना पड़ता है। भोग का अर्थ अतीत में किये हुए कार्यों का फल भुगतना मात्र नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है, जिस बिन्दु पर हम पहुँच गये हैं उसकी सब गुत्थियों को खोलते हुए आगे बढ़ना। भोग के लिए इन स्थानों पर कभी-कभी बहुत काल तक हमें ठहरना पड़ता है और केवल अपने ही प्रयास से उसमें से निकल सकना अधिकांशतः लगभग असंभव सा हो जाता है। प्रारंभ की कुछ अवस्थाओं में तो यह संभव हो सकता है पर आगे चलकर यह बिलकुल असंभव हो जाता है। ऐसा देखा गया है कि अतीत काल के अधिकांश ऋषिगण जिन्होंने केवल अपने प्रयास से इसे पार करने का प्रयत्न किया था जीवन पर्यन्त केवल पहली या दूसरी ही अवस्था पर रुके रहे और उसे पार न कर सके। दरअसल ऊँची अवस्थाओं पर हमें जिस स्थिति का सामना करना पड़ता है उसे फिसलन की दशा कहा जा सकता है। वहाँ कभी हम ऊपर पहुँच कर फिर नीचे फिसल जा सकते हैं। ऐसा बार-बार हो सकता है। परिणामतः ऊँची चढ़ान अत्यन्त कठिन अथवा लगभग असंभव हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में योग्य गुरु का शक्तिशाली सहारा ही हमें उस भंवर से बाहर निकाल सकता है। यदि गुरु में योग्यता एवं शक्ति की कमी नहीं है तो वह शिष्य को स्वयं अपनी शक्ति द्वारा गुत्थियों से बाहर निकालकर दूसरी ऊँची अवस्था तक पहुँचा देगा। इसलिए, यह आवश्यक है कि जो पथ-प्रदर्शक हम चुनें वह उच्चतम प्रतिभा वाला हो तथा अपनी असाधारण शक्ति द्वारा सभी गुत्थियों को एक ही नजर

में तोड़ सकने में समर्थ हो। ऐसा वही हो सकता है जो स्वयं पूर्णता अथवा पूर्ण आत्म-निषेध की अवस्था को प्राप्त हो गया हो। अतएव, हमें चाहिये कि ऐसी महान् शक्ति के साथ प्रेम एवं आकर्षण का संबंध जोड़ लें। यह कोई महत्व नहीं रखता कि हम उसके साथ क्या संबंध जोड़ते हैं। हम उसे अपना मित्र मालिक, नौकर अथवा जो भी चाहें, मान लें। लेकिन फिर भी वह हमारा पथ-प्रदर्शक या गुरु, जो वह साधारणतया कहलाता है, ही रहेगा।

दुर्भाग्यवश, आजकल उचित पथ-प्रदर्शक के चुनाव की ओर ध्यान नहीं दिया जाता यद्यपि प्रत्येक धार्मिक प्रवृत्ति वाले हिन्दू का यह विश्वास है कि आध्यात्मिक लाभ के लिए उत्पन्न उत्कंठा की तुष्टि के लिए गुरु का होना नितान्त आवश्यक है। साधारणतः इस कार्य के लिए लोग किसी भी व्यक्ति को, उसकी योग्यताओं अथवा गुणों पर ध्यान दिये बिना ही चुन लेते हैं। भोली जनता को आकर्षित करने वाले तथाकथित गुरुओं द्वारा प्रदर्शित अधिकांशतः चमत्कारों अथवा बहलावों में आकर ही वे ऐसा करते हैं। ऐसे शिष्यों के शिकारी गुरुओं की कमी नहीं है। पेड़ की पत्तियों की भाँति वे असंख्य हैं क्योंकि उनमें से बहुतों के लिए गुरु बनना एक लाभप्रद कार्य है जिसके द्वारा उन्हें इतनी अधिक आय हो जाती है जितनी अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती। इसके साथ ही साथ वे अपने शिष्यों से अत्यधिक प्रतिष्ठा एवं व्यक्तिगत सेवा पाते हैं। इस प्रकार भोली जनता आसानी से इन स्वार्थी पेशेवरों का शिकार हो जाती है। एक छोटा चमत्कार या कोई साधारण मनोहर अथवा आकर्षक प्रदर्शन मात्र ही सैकड़ों अज्ञानी भेड़ों को गुरु के बाड़ों में हांक लाने के लिए काफी होता है। उनको असंतुष्ट करने वाले किसी व्यक्ति के लिए शाप की केवल एक साधारण

सी धमकी ही हजारों को उनके शिकंजों में ला देती है। इतना ही नहीं, अपने पेशे का एकाधिकार बनाए रखने के लिए वे यह भी घोषणा करते फिरते हैं कि एक विशिष्ट वर्ग वालों के अतिरिक्त अन्य किसी को, चाहे वह सन्यासी हो अथवा गृहस्थ, गुरु होने का अधिकार नहीं है। योग्यता एवं पात्रता की चिन्ता किये बिना ही वे अपने को जगत का धर्मगुरु मान बैठते हैं। आजकल ढेर के ढेर सन्यासी भी महात्मा बने फिरते हैं और अपने को जगद्गुरु कहते हैं। क्या यह शोक की बात नहीं है कि ऐसे पेशेवर पाखण्डी, जो किसी भी धर्म एवं राष्ट्र के लिए कलंक रूप हैं, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भोली जनता को ठगते और धोखा देते हुए निःशंक बिना किसी दण्ड भय के घूमते फिरते हैं ?

अब वह अवसर आ गया है जब जनता आँख खोलकर देख ले कि इन लोगों ने कितना घोर अन्याय किया हैं। एक विशिष्ट वर्ग का ही गुरु हो सकने का एकाधिकार सरासर गलत है। पेशेवर गुरुओं ने अपनी स्वार्थ-रक्षा के लिए ही ऐसा कर रखा है। यह बहु प्रचलित विश्वास कि कोई शिष्य किसी भी परिस्थिति में अपने गुरु के साथ एक बार जोड़ा हुआ पवित्र संबंध नहीं तोड़ सकता, स्वयं इन झूठे गुरुओं की अपनी स्थिति सुरक्षित एवं सुदृढ़ बनाने के लिए एक धूर्त चाल है। यह धोखा-धड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शिष्य को दीक्षित करने की (जो वास्तव में गंभीर सिद्धांत पर आश्रित है) प्रक्रिया के वास्तविक महत्व से सर्वथा अनभिज्ञ अधिकांश आधुनिक पेशेवर गुरुओं ने उसका बहुत दुरुपयोग किया है। गुरु के नाते उनका केवल यही काम है कि शिष्य को दीक्षित करते समय वे उसके कान में कुछ रहस्यपूर्ण शब्द फूंक दें और पूजा

के नाम पर कुछ आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ बता दें। शिष्य के प्रति उनका कर्त्तव्य यहीं समाप्त हो जाता है। उसकी प्रगति के लिए उन्हें इसके सिवा और कुछ नहीं करना रहता कि वे उसे प्रत्येक वर्ष दर्शन दे दें और उससे अपना वार्षिक कर ले लें। वास्तव में, एक शिष्य को औपचारिक रूप से तभी दीक्षित किया जाना चाहिए जब उसके हृदय में सच्चा विश्वास एवं दैवी प्रेम बद्धमूल हो गया हो। दीक्षा इस बात की द्योतक है कि शिष्य का नाता सर्वोच्च शक्ति से जुड़ गया है। उस दशा में शिष्य ने जितनी ग्रहणशीलता अपने भीतर विकसित कर ली होती है, उसी के अनुसार आध्यात्मिक शक्ति उसमें स्वतः बहना आरंभ कर देती है।

एक सही संबंध स्थापित करना बहुत कुछ गुरु की शक्ति एवं योग्यता पर निर्भर रहता है, जिसके लिए उसमें उच्चकोटि की क्षमता का होना आवश्यक है। एक बार का स्थापित सही संबंध तब तक बना रहेगा जब तक शिष्य मोक्ष न प्राप्त कर ले, जो ऐसी दशा में अनेक जीवनोपरान्त प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है। वास्तव में उच्चकोटि की प्रतिभा से संपन्न गुरु द्वारा उपर्युक्त प्रकार से सुदीक्षित शिष्य के संबंध-विच्छेद का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए झूठी दीक्षाओं का स्वांग रचने वाले पेशेवर गुरु के लिए यह सदैव चिन्ता का विषय बना रहता है। इसलिए, शिष्य को स्थायी रूप से अपने पंजे में रखने के लिए दैवी नियम के रूप में वे यह घोषित करते हैं कि यदि वह कभी गुरु से संबंध-विच्छेद की बात भी सोचेगा तो उसे नरक की सभी यातनाएँ झेलनी पड़ेंगी। भोली जनता ने इस विचार मात्र से काँपते हुए कि उनसे कहीं ऐसा कार्य न हो जाय जो गुरु

को अप्रसन्न कर दे इसे शास्त्र-वचन मान लिया। अतः वे उनके सभी अत्याचारों को चुपचाप सहते रहते हैं। मेरा विश्वास है कि हमारे शास्त्रों में इस प्रकार का कोई विधान नहीं है। यह केवल इन धर्म-गुरुओं की गढ़ी हुई चीज है। मैं प्रत्येक प्राणी का यह जन्मसिद्ध अधिकार मानता हूँ कि जब उसे लगे कि उसने कोई गलत गुरु कर लिया है अथवा गुरु की क्षमता एवं गुणों के पहचानने में गलती की है तो उससे अपना संबंध विच्छेद कर ले। उसे अधिकार है कि जब कभी उसे यह मालूम हो कि गुरु उसे उसकी वर्त्तमान उपलब्धियों के ऊपर पहुँचा सकने में असमर्थ है तो वह दूसरा गुरु कर ले। दूसरी ओर, ऐसी अवस्था में एक सच्चे गुरु को स्वयं चाहिए कि वह अपने शिष्य को दूसरे अधिक पहुँचे हुए एवं योग्यतर गुरु के पास भेज दे जिससे शिष्य की प्रगति में कोई बाधा न पड़े। एक सच्चे एवं निःस्वार्थ गुरु का यही कर्त्तव्य है। पर, यदि गुरु स्वार्थक्षश, संबंध-विच्छेद की प्रार्थना अस्वीकृत कर दे तो शिष्य उससे शीघ्र ही संबंध-विच्छेद करने तथा दूसरे गुरु की खोज करने के लिए स्वतन्त्र है। ऐसा करने में उसे कोई नैतिक या धार्मिक नियम कभी नहीं रोकता।

गुरुओं की श्रेणी में वो लोग कुछ आगे बढ़े हुए माने जाते हैं जो शास्त्रों तथा अन्य धर्म-ग्रंथों से अर्जित अपने ज्ञान के आधार पर शिक्षा या उपदेश देते रहते हैं। उन्होंने संघ और आश्रम बना रखे हैं जहाँ अपने शिष्यों में उनकी स्थिति राजा जैसी होती है। वे बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण देते हैं, और विधि निषेध—क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—बतलाते हैं तथा माया, जीव एवं ब्रह्म संबंधी प्रश्नों को समझाते हैं।

उनके उच्च विचारों एवं विपुल ज्ञान की प्रशंसा करते हुए लोग हजारों की संख्या में उपदेश सुनने के लिए उनके पास एकत्र होते हैं। वे उनसे अनेक गहन प्रश्न पूछते हैं। यदि ये गुरु शास्त्रों से अर्जित अपने ज्ञान कोष में से उनको उत्तर दे सकने में समर्थ हो जाते हैं तो उन लोगों के मन में उनके माहात्म्य की छाप बैठ जाती है और वे उन्हें महात्मा और गुरु मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। पर, इस प्रकार, उन्होंने उनकी विद्वत्ता का परीक्षण किया न कि उनकी सच्ची योग्यता का। यह भलीभाँति ध्यान में रखना चाहिए कि पाण्डित्य अथवा ज्ञान किसी मनुष्य को पूर्ण नहीं बना सकता। केवल सही साक्षात्कार ही एक सच्चा योगी अथवा संत बना सकता है। यह भी संभव है कि जिस व्यक्ति ने अपने बाह्य-रूप, पाण्डित्य अथवा वक्तृत्व-कला से आपको प्रभावित कर दिया हो वह यथार्थ उपलब्धियों के क्षेत्र में निम्नतम स्तर का हो। अतः ज्ञान एक सच्चे महात्मा अथवा योगी को परखने की कसौटी नहीं। इसी भाँति, एक महात्मा अथवा गुरु की सही जाँच उसके चमत्कार या उसके असाधारण तौर-तरीके से नहीं, वरन् साक्षात्कार के मार्ग पर केवल उसकी व्यावहारिक उपलब्धियों से ही हो सकती है। 'महात्मा' शब्द का प्रचलित अर्थ एक महान व्यक्ति मुझे अधिक उचित नहीं जंचता। मैं महात्मा की परिभाषा एक नगण्यतम पुरुष के रूप में करूँगा अथवा एक सर्वथा उपेक्षित व्यक्ति के रूप में जो बड़प्पन, अभिमान एवं अहं की समस्त भावनाओं से परे, पूर्ण आत्म-निषेध की अवस्था में, स्थायी रूप से स्थित हो।

कुछ लोगों का विचार है कि ज्ञान, साक्षात्कार की प्रारंभिक अवस्था होने के कारण, आवश्यक एवं अपरिहार्य है। मैं इस

बात से सहमत नहीं क्योंकि ज्ञान तो केवल मस्तिष्क की एक उपलब्धि है, जबकि साक्षात्कार आत्मा का जागरण है और इसलिए उसकी सीमा से परे है। अध्यात्म-ज्ञान की पुस्तकों में विभिन्न आध्यात्मिक स्तरों पर मन की दशा के संबंध में हम अधिक से अधिक पढ़ते और उनसे जानकारी प्राप्त करते हैं परन्तु जहाँ यथार्थ उपलब्धियों का प्रश्न आता है हम उनसे अत्यधिक दूर रहते हैं। लोगों से हम इन दशाओं के बारे में बातें कर सकते हैं, उनके पक्ष-विपक्ष में तर्क दे सकते हैं और अपने पाण्डित्य की श्रेष्ठता स्थापित कर सकते हैं, पर आंतरिक रूप से हम उनसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। हम गीता पर भाषण अथवा उपदेश सुनते हैं; प्रतिदिन नियमित रूप से गीता के कुछ अंशों का पाठ करते हैं; उस पर बड़े-बड़े विद्वानों की टीकाएँ पढ़ते हैं लेकिन हमारे ऊपर उनका व्यावहारिक प्रभाव क्या पड़ता है ? क्या हममें से कोई कभी गीता में वर्णित दशाओं में से एक को भी व्यावहारिक रूप से प्राप्त कर सका है ? 'संसार माया है', 'मनुष्य ही ब्रह्म है' इत्यादि शब्दावलियाँ वे दोहराते रह सकते हैं किंतु उन दशाओं की अनुभूति कर सकने में असमर्थ रहते हैं। इनमें से कोई कभी अपने भीतर उन अवस्थाओं का विकास न कर पाया जिनका अर्जुन ने श्रीकृष्ण से गीता सुनने के पश्चात् किया था। गीता जिस रूप में आज हमारे सामने है वह सचमुच उस ज्ञान की एक व्याख्या मात्र है जो श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध के प्रारंभ होने के समय अर्जुन को दिया था। गीता में शब्दों द्वारा बताई हुई सारी आध्यात्मिक अवस्थाएं श्रीकृष्ण ने अर्जुन के हृदय में वास्तविक रूप में प्रविष्ट करा दी थीं जिसके फलस्वरूप अर्जुन उन्हीं अवस्थाओं का अनुभव भीतर बाहर सब जगह कर रहा था। इसलिए, एक-एक शब्द जो

उसने सुना उसके हृदय में सीधा उतरता चला गया और एक स्थायी प्रभाव उत्पन्न करता गया। गीता के आधुनिक शिक्षकों एवं उपदेशकों का श्रोताओं के मन पर वांछित प्रभाव उत्पन्न करने की असफलता का कारण उनके अन्दर उन आध्यात्मिक अवस्थाओं को प्रविष्ट कराने का अभाव है। गीता में विवेचित मन की विभिन्न दशाएं, वास्तव में, वे विभिन्न अवस्थाएं हैं जो आध्यात्मिकता के पथ पर चलने वालों की राह में आती हैं। वे स्वतः अंदर से विकसित होती हैं। बाह्याडम्बरपूर्ण उपकरणों द्वारा मन की कोई विशिष्ट दशा समय से पूर्व अथवा अपरिपक्व अवस्था में उत्पन्न करना आंतरिक स्थूलता बढ़ाता है जो हमारी प्रगति के लिए हानिकारक है।

सच्चा गुरु वह नहीं है जो केवल धार्मिक सिद्धांतों के तथ्यों की व्याख्या कर सके अथवा जो हमें क्या करना या क्या न करना चाहिए का निर्देश कर सके। हम में से लगभग सभी इसके विषय में काफी जानते हैं। एक गुरु से जिस बात की हमें अपेक्षा है, वह है आत्मा को जगाने के लिए सच्ची प्रेरणा, तथा साक्षात्कार के मार्ग पर उत्तरोत्तर प्रगति के लिये उसकी प्रत्यक्ष सहायता। यदि हम सफलता चाहते हैं तो ऐसे व्यक्ति की हमें खोज करनी पड़ेगी। अतः स्पष्ट है कि आध्यात्मिकता का पथ-प्रदर्शक चुनते समय हमें उसके पाण्डित्य अथवा चमत्कारों को न देखकर आत्म-साक्षात्कार के क्षेत्र में उसकी व्यावहारिक उपलब्धियां देखनी चाहिए। एक व्यक्ति जो स्वयं मुक्त है वही हमें शाश्वत बन्धन से मुक्त करा सकता है। यदि गुरु स्वयं संस्कार, माया अथवा अहंकार के बन्धनों से मुक्त नहीं है तो उसके लिए किसी को उन बन्धनों से मुक्त करा सकना संभव नहीं। यदि हम एक खम्भे में बँधे हों और हमारा गुरु दूसरे

खम्भे में, तो गुरु के लिए हमें बन्धन मुक्त कर सकना कैसे संभव हो सकता है ? हमें बंधन से वही मुक्त कर सकता है जो स्वयं मुक्त हो। लोग अधिकतर इसलिए गुमराह हो जाते हैं कि वे ऐसे अयोग्य गुरुओं के प्रति आत्म-समर्पण कर देते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य कदाचित् निजी लाभ तथा अपनी वृद्धि करना होता है। इसी दृष्टिकोण के कारण वे साधारणतः झूठे दिखावों द्वारा अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए आतुर रहते हैं। किसी अधिक उन्नतिशील अथवा अधिक गुण वाले की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेना शक्ति और मर्यादा से उत्पन्न उनके दंभ के लिए कदाचित् सबसे बड़ी चोट होगी। यह और कुछ नहीं केवल अहंकार का परुषतम रूप है। यदि हम ऐसे गुरु के प्रति समर्पण करते हैं तो निश्चय ही हम गुरु के अभिमान की वही भावना ग्रहण कर लेंगे जो निम्नतम प्रकार की स्थूलता है और जो हमारी आध्यात्मिक उन्नति में अवश्य ही बाधा डालेगी। जब तक यह दोष रहेगा, मोक्ष कभी संभव नहीं है।

आध्यात्मिकता, वास्तव में, मन की एक ऐसी सूक्ष्मतम स्थिति है जिसकी तुलना में प्रत्येक अन्य वस्तु अधिक भारी या स्थूलतर प्रतीत होगी। गुलाब के फूल की मधुर सुगन्ध से उत्पन्न इन्द्रियों की कोमल अनुभूति भी इससे कहीं अधिक भारी है। मैं इसे पूर्ण शान्ति एवं समभाव की स्थिति कह सकता हूँ जो प्रकृति के पूर्ण सामंजस्य में है। मन की इस स्थिति में सभी इन्द्रियाँ एवं प्रवृत्तियाँ मानों निद्रितावस्था में होती हैं। उनकी क्रिया स्वतः होती रहती है और मन पर कोई प्रभाव नहीं डालती। पूर्ण शान्ति इसकी उच्च अवस्थाओं में से एक है यद्यपि सत्य वस्तु अभी और दूर है जहाँ शान्ति का बोध भी विलीन हो

जाता है, क्योंकि, शान्ति का बोध भी मन पर अत्यन्त नगण्य ही सही, पर कुछ न कुछ भार तो डालता ही है। जब हम वास्तव में शान्ति के अस्तित्व से भी बेखबर हो जाते हैं तभी वास्तविक अर्थ में भावना के प्रभाव अथवा भार से मुक्त होते हैं। यह अवस्था विचित्र है। यह वस्तुतः न तो आनन्द है और न उसका विपरीत। इस अवस्था की वास्तविक दशा को व्यक्त करने में शब्द असफल हो जाते हैं। ऐसी दशा हमें अन्ततोगत्वा प्राप्त करनी है। इसके लिए वही गुरु सुयोग्य हो सकता है जो स्वयं इस अवस्था में स्थायी रूप से रह रहा हो और जिसमें अभ्यासी के हृदय में अपनी इच्छाशक्ति द्वारा आध्यात्मिक दशाएँ प्रविष्ट कराने तथा वहाँ से उलझनों एवं अड़चनों को हटाने की क्षमता और शक्ति हो। इस स्तर से कम का कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक प्रशिक्षण देने के योग्य नहीं। यह अत्यन्त दुःख एवं लज्जा की बात है कि हमारे प्राचीन ऋषियों की प्रारंभ की हुई तथा व्यापक रूप से अभ्यस्त यौगिक प्राणाहुति की यह युगों पुरानी विधि उसी देश में लुप्तप्राय हो गयी है जहाँ इसका जन्म हुआ था और जहाँ अब इस पर विश्वास करने के लिए भी केवल कुछ ही लोग तैयार होंगे! कुछ लोग इसे भ्रमवश मेस्मेरिज़्म या हिप्नोटिज़्म आदि कह कर इसका उपहास करने का प्रयत्न करते हैं। मैंने इस विषय को अपनी पुस्तक 'राजयोग का दिव्य दर्शन' (Efficacy of Rajyoga) में स्पष्ट कर दिया है। यहाँ मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि उच्चतर अवस्थाओं की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक प्रशिक्षण केवल यौगिक प्राणाहुति द्वारा ही संभव है, अन्य किसी विधि द्वारा नहीं। आज के शिक्षित समाज में इस विधि का बार-बार उल्लेख होने से कुछ धर्म-शिक्षक अपनी

तत्संबंधी अज्ञानता को छिपाने के लिए लोगों से यह कहते फिरते हैं कि प्राणाहुति में कोई विशेषता नहीं । ऐसा बहुधा होता है कि जब आप किसी महात्मा या सन्त के साथ होते हैं तो कुछ सीमा तक आप अशान्त करनेवाले विचारों से मुक्त हो जाते हैं तथा कुछ देर के लिए अपेक्षाकृत शान्ति का अनुभव करते हैं । इसे वे उस महात्मा की प्राणाहुति के प्रभाव के कारण मानते हैं । जो ऐसा अर्थ लगाते हैं वे अपनी अपात्रता पर पर्दा डालने के लिए जनता को धोखा देने का प्रयत्न करते हैं । जिसे वे प्राणाहुति कहते हैं, वास्तव में, वह उस महात्मा के पवित्र परमाणुओं का स्वतः विकिरण है । यह वहाँ एकत्र सभी लोगों को प्रभावित करता है और जितनी देर वे लोग वहाँ रहते हैं कुछ शान्ति का अनुभव करते हैं । यह तो केवल एक स्वाभाविक क्रिया है और प्राणाहुति से इसका कोई संबंध नहीं । केवल महात्मा और सन्त से ही नहीं वरन् हर व्यक्ति से चाहे वह पवित्र या दुष्ट, संत या राक्षस हो, ऐसे परमाणु विकीर्ण होते रहते हैं । यदि आप कुछ समय के लिए किसी अपवित्र अथवा नैतिक पतन वाले मनुष्य के साथ रहें तो आप को लगेगा कि उसी प्रकार के अपवित्र परमाणु उससे होकर आपको प्रभावित कर रहे हैं और आपके विचार भी फलतः उसी दिशा में बहने लगते हैं । इस का प्रभाव केवल अल्प समय तक रहता है और जैसे ही आप उससे दूर हटते हैं, वह गायब हो जाता है ।

यही कारण है कि धर्म-गुरु बहुधा अपने उपदेशों का अनुसरण करने के संबंध में लोगों की उदासीनता की शिकायत करते रहते हैं । वे कहते हैं कि उनका उपदेश सुनने के बाद जब

लोग जाते हैं तो जो सब कुछ सुना है वहीं छोड़ देते हैं, उसका लेशमात्र भी अपने मन में नहीं रखते। मेरे विचार में इसके लिए वास्तव में शिक्षक अथवा उपदेशक दोषी है, लोग नहीं। उसमें वह क्षमता अथवा शक्ति ही नहीं कि मंच से कहे हुए उपदेशों को लोगों में प्रविष्ट करा सके। संकीर्तन समारोहों के संबंध में भी ऐसी ही बात कही जाती है। ऐसे अवसरों पर जो शान्त वातावरण बन जाता है वह भी प्राणाहुति के प्रभाव के कारण समझा जाता है। वास्तव में, यह सहगान से उत्पन्न स्पंदनों का परिणाम है। सभी संगीत समारोहों में हमें वैसा ही अनुभव होता है। ऐसे अवसरों पर अधिकतर हमारा मन एक ही विषय पर, जो कि हमारे सामने होता है, केन्द्रित रहता है और उस समय हम अन्य किसी वस्तु से बेखबर हो जाते हैं। चूँकि संकीर्तन में हमारे विचार किसी पवित्र आदर्श पर केन्द्रित हो जाते हैं, हम उसी को अपने हृदय में स्वतः महसूस करने लगते हैं। अतः इसका भी प्राणाहुति से कोई संबंध नहीं है।

प्राणाहुति की शक्ति एक अत्यन्त उच्चकोटि की यौगिक उपलब्धि है। इसके द्वारा योगी अपनी ही इच्छाशक्ति से किसी के अंदर यौगिक शक्ति अथवा ईश्वरीय तेज भर सकता है और उसमें से किसी भी अवांछित अथवा उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक तत्त्व को हटा सकता है। वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग न केवल अपने निकट एकत्र लोगों पर ही वरन् दूरस्थ लोगों पर भी कर सकता है। इस शक्ति का उपयोग किसी भी समय किसी भी प्रकार से किया जा सकता है। इस शक्ति पर अधिकार रखने वाला, एक ही दृष्टि में, स्थायी अथवा अस्थायी रूप से अभ्यासी को तत्कालीन दशा से कहीं आगे की दशा में पहुँचा सकता है, जिसे वैसे प्राप्त करने के लिए जीवन भर का

समय चाहिए। यह केवल व्यर्थ की डींग नहीं, एक ध्रुव सत्य है और जो भी चाहे, किसी समय इसका व्यावहारिक रूप से परीक्षण कर सकता है। ऋषियों ने बहुधा प्राणाहुति शक्ति द्वारा एक ही दृष्टि में किसी मनुष्य का संपूर्ण स्वभाव बदल दिया है। हमारे फतेहगढ़ के समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज, स्वामी विवेकानन्द, तथा अनेक अन्य महान् ऋषियों के अलौकिक उदाहरण इसके पर्याप्त प्रमाण हैं।

किस प्रकार के व्यक्ति को अपना पथ-प्रदर्शक अथवा गुरु चुनना चाहिए, इस समस्या का निदान कुछ कठिन नहीं है। जब हमारी दृष्टि चरम लक्ष्य की ओर जम जाती है तो हम उस स्तर से नीचे के किसी भी व्यक्ति से संतुष्ट नहीं हो सकते। हर योगी या सन्त की आत्मोन्नति एवं उपलब्धि का अपना एक स्तर होता है। यदि हम श्रद्धा एवं भक्ति से उनमें से किसी एक के भी साथ लग जायें तथा उसकी उच्चतम अवस्था में लीन हो जायें तो हम स्वयं भी उसी के अनुरूप उच्चावस्था प्राप्त कर लेंगे। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम उच्चतम योग्यता वाले व्यक्ति को ही अपना गुरु चुनें। यदि, अभाग्यवश, किसी कारण से हम किसी कम उपलब्धि वाले को चुन लेते हैं तो हम उसी के अनुरूप चरम लक्ष्य से पीछे रह जायेंगे। साधारणतया, किसी आध्यात्मिक गुरु को अपने आपको दूसरों के प्रशिक्षण का अधिकारी तब तक नहीं समझना चाहिए जब तक कि उसकी पहुँच कम से कम ब्रह्माण्ड मण्डल (जो विराट् देश भी कहलाता है) तक न हो गयी हो, जहाँ भौतिक जगत में घटित होने के पूर्व सभी वस्तुयें सूक्ष्म रूप में प्रकट होती हैं। जब कोई शिक्षक अपने को उस स्तर अथवा क्षेत्र से सम्बद्ध कर लेता है तो वह निरन्तर शक्ति के अक्षय भण्डार से सम्बद्ध हो जाता है।

दूसरी ओर, यदि कोई इस स्तर पर पहुँचे बिना ही दूसरों को आध्यात्मिकता में प्रशिक्षण देने लगता है तो वह न केवल स्वयं अपनी ही शक्ति का ह्रास प्रारंभ करता है वरन् शिक्षार्थियों के संस्कारों एवं स्थूलताओं से दूषित हो जाता है। फलतः वह स्वयं ही शीघ्र भ्रष्ट हो जाता है। हमारे मिशन में इस अवस्था पर भी साधारणतया प्रशिक्षण देने की आज्ञा नहीं दी जाती। वास्तव में कोई शिक्षा देने के योग्य तभी होता है जब उसके हृदय में शिक्षक या गुरु होने का तनिक भी भाव न रहे। मेरा ऐसा विश्वास है कि यदि गुरु होने का विचार एक बार भी उसके मन में आ गया तो वह आजीवन गुरु होने के योग्य नहीं रहता। इस भावना की उपस्थिति मात्र से ही यह प्रकट होता है कि उसके हृदय में अपनी महत्ता अथवा बड़प्पन की भावना विद्यमान है। मालिक या गुरु होने की भावना यदि बनी रही तो वह शीघ्र ही अहंकार के क्षुद्रतम रूप घमण्ड में बदल जाती है। फलस्वरूप, तत्सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका एक गुरु में होना सबसे बड़ी बुराई है। अतः गुरु बनने के पूर्व मनुष्य के लिए इन सब बुराइयों से छुटकारा पाना आवश्यक है। ईश्वर ही वास्तविक गुरु अथवा मालिक है और हम केवल उसी से प्रकाश पाते हैं। पर, चूँकि किसी साधारण गुणों वाले व्यक्ति के लिए सीधे ईश्वर से प्रेरणा प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, हम अपने में से ही किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता ढूंढ़ते हैं जिसने सर्वशक्तिमान् ईश्वर से अपना संबंध जोड़ लिया हो। अतः यह बिलकुल स्पष्ट है कि यदि कोई गुरु अथवा मालिक के रूप में, हमारे सामने आता है, तो वह उस स्थान का अपहरण करता है जो वास्तव में ईश्वर का है, और इसलिए यह ईश्वर-निन्दा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः उसे अपने को ईश्वर

का अत्यन्त दीन सेवक मानकर उस महामालिक के नाम पर मानवता की सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार, अहंकार तथा उससे उत्पन्न दोषों के लिये, जो आजकल अभाग्यवश काफी अधिक हैं, कोई स्थान नहीं रह जायगा। जहाँ ऐसे दोषों का बोलबाला हो वहाँ सत्य एकदम विलुप्त होता है। अतः गुरु अथवा शिक्षक को अपने हृदय से बड़प्पन अथवा श्रेष्ठता की भावना को पूर्णतः निर्मूल कर देना चाहिए और अपने आप को मानवता का अत्यन्त विनम्र साथी अथवा ईश्वर का सेवक समझना चाहिए। मेरे प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव इसके उदाहरण थे। आजीवन उन्होंने अपने साथियों को भाई की तरह माना। उनके मन में कभी एक बार भी यह विचार न आया कि वे लोग उनके शिष्य हैं। वे तो सदा अपने शिष्यों तक की व्यक्तिगत सेवा करने को तैयार रहते थे और बहुधा बिना उनको जताए ही ऐसा कर दिया करते थे। मैं सोचता और महसूस करता हूँ कि गुरु के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह स्वामित्व की भावना त्याग कर अपने को मानवता का एक साधारण सेवक समझे। जब तक कोई विशेष आवश्यकता न हो शिष्यों से सेवा लेना न्यायसंगत नहीं, और यदि है, तो उतना ही जितना कि वह स्वयं शिष्य के लिए करने को तैयार हो। आजकल अधिकांश तथाकथित गुरु, शिष्यों से सेवा करवाने की प्रथा को प्रोत्साहित करते हैं क्योंकि इससे उन्हें व्यक्तिगत आराम मिलता है तथा उनके झूठे गर्व की तुष्टि होती है। उनका कहना है कि गुरु के चरण स्पर्श करने से या उनके शरीर की मालिश करने से गुरु के शरीर में स्थित चुंबकीय धाराएँ शिष्य के शरीर में प्रवाहित होने लगती हैं जिससे शिष्य को पवित्र संस्कार बनाने में सहायता मिलती है। इस प्रकार अपने गुरु से वह काफी

शुद्धता एवं पवित्रता खींचता रहता है। यह सत्य हो सकता है, लेकिन मैं उनसे जरा पूछना चाहूँगा कि क्या वही चीज संभव नहीं है जब गुरु शिष्य की वैसी ही सेवा करे? मेरा विचार है कि इसे कोई इन्कार करने का साहस नहीं कर सकता। अतः स्पष्ट है कि इसके पीछे निजी सुख-सुविधा की भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मेरी विनम्र राय है कि यह तरीका अब समय की आवश्यकतानुसार उलट देना चाहिए और गुरु को स्वयं शिष्य की वैसी ही सेवाएँ करनी चाहिए। निःसंदेह गुरु की स्थिति बड़ी विचित्र है। यदि वह अपने को मालिक समझता है और इस कारण सहयोगियों से अपने को अति उच्च मानता है तो इसे निम्नतम कोटि का अहंकार ही कहा जायेगा। यह तो वास्तव में शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने आप को प्रेम एवं भक्ति से गुरु की सेवा में लगा दे। शिष्य से सेवा करवाना गुरु का कोई अधिकार अथवा विशेषाधिकार नहीं। मुझे एक उदाहरण याद आता है। एक समय एक अनाड़ी इन तथाकथित गुरुओं में से एक के पास शिष्य बनने के लिए गया। अपनी शिष्य-मण्डली में एक और वृद्धि होने के विचार से प्रसन्न होकर गुरु ने उसे शिष्य के कर्त्तव्यों का उपदेश करना प्रारंभ किया। "तुम्हें हर समय गुरु की निजी आवश्यकताओं एवं सेवाओं के प्रति सचेत रहते हुए उसके प्रति पूर्ण आज्ञाकारी रहना चाहिए। तुम्हें प्रतिदिन सुबह शाम उसे साष्टांग प्रणाम करना चाहिए तथा उस के सो जाने पर सोना और उसके जागने से पहले जागना चाहिए।" उस बेचारे ने वह करने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाकर सरलता से पूछा, "यदि मैं इसे पूरी तौर से कर सकने में असफल हो जाऊँ तो क्या होगा?" "तुम निकाल दिये जाओगे और सदा के लिए नरक मिलेगा" गुरु

का कठोर उत्तर था। उसने नम्रता से कहा "तब तो महाशय, आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मुझे अपना गुरु स्वीकार कर लें!"

गुरु एवं शिष्य के पारस्परिक संघर्षों एवं ईर्ष्या के उदाहरण बहुधा हमारे सामने आते रहते हैं। इन सब के क्या कारण हैं? एक मात्र कारण स्वार्थ-सिद्धि अथवा निजी लाभ है। अतः एक गुरु के लिए निजी उद्देश्यों अथवा स्वार्थ-सिद्धि की भावनाओं से एकदम मुक्त होना परमावश्यक है। अभिमान अथवा महत्ता की भावनाओं से उसे सर्वथा मुक्त होना चाहिए। उसे निःस्वार्थी एवं मानवता का सच्चा सेवक होना चाहिए। धन, यश एवं नाम आदि के स्वार्थ-भाव से दूर, प्रेम पूरित भाव से लोगों को शिक्षा देना ही उसका परम कर्त्तव्य होना चाहिए। अन्तिम अवस्था तक की पहुँच एवं यौगिक प्राणाहुति की शक्ति उसमें होना आवश्यक है। यदि हम पूर्ण सफलता चाहते हैं तो हमें अपने पथ-प्रदर्शक के रूप में ऐसे ही मनुष्य को खोजना पड़ेगा। किसी अयोग्य व्यक्ति को गुरु बनाने की अपेक्षा आजीवन बिना गुरु के रहना अच्छा है।

अध्याय ५

आध्यात्मिक प्रशिक्षण

हमारे वर्तमान धार्मिक एवं नैतिक पतन का कारण अधिकांशत: हमारा वातावरण एवं गलत प्रशिक्षण है। शिक्षा एवं प्रशिक्षण के सभी क्षेत्रों में मन को उचित रूप से ढालने की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता। प्रतिष्ठित एवं सुखमय जीविका की प्राप्ति के लिए उचित सांसारिक प्रशिक्षण देने का यथासंभव प्रयास किया जाता है पर आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक उचित प्रशिक्षण की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। जीवन की इस अति आवश्यक समस्या को बहुत ही कम महत्त्व दिया जाता है। किसी देवी या देवता की प्रशंसा में कुछ पदों का पाठ कर लेना अथवा पूजा के नाम पर यन्त्रवत् कुछ औपचारिक क्रियाएं कर लेना ही जन साधारण को सिखलाया जाता है। वे इसे जीवन भर करते रहते हैं पर लाभ कदाचित् कुछ भी नहीं होता। उनमें आन्तरिक शान्ति का अभाव सदा बना रहता है। मन की सारी क्रियाएं जैसे, इच्छाएँ, प्रलोभन, भावावेश आदि पूर्ववत् बने रहते हैं। प्रशिक्षण का मुख्य तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने भीतर यथासंभव अधिक से अधिक दैवी गुण उतारना प्रारंभ कर दे। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो समझ लेना चाहिए कि प्रशिक्षण पद्धति दोषपूर्ण अत: निरर्थक है। मनुष्य का उचित विकास सही प्रशिक्षण का ही स्वाभाविक परिणाम होता है।

उचित विकास का अर्थ है अपनी सारी इन्द्रियों एवं प्रवृत्तियों में उचित समभाव स्थापित कर मन को सही रूप में ढालना। इसीलिए हमारे विकास के लिए एक सुयोग्य शिक्षक के मार्ग-दर्शन में सही प्रकार का प्रशिक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है जिसके बिना आध्यात्मिक क्षेत्र में उच्च उपलब्धियाँ कभी संभव नहीं। अधिकांश लोगों में किसी न किसी रूप में ईश्वर के प्रति एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। फिर भी, ईश्वर का साक्षात्कार करने में सफल होने वाले बिरले ही होते हैं। इसका कारण दोषपूर्ण पथ-प्रदर्शन एवं गलत प्रशिक्षण है जो मनुष्य को असली रास्ते से दूर कर देता है और जिसके फलस्वरूप वह सदा के लिए भटक जाता है। साधारण योग्यता वाले मनुष्य के लिए यह निर्णय करना काफी कठिन है कि उसका प्रशिक्षण सही ढंग से चल रहा है या नहीं। साधक तो असंदिग्ध रूप से चुपचाप उस व्यक्ति के निर्देशों पर चलता रहता है जिसे उसने अपना गुरु मान लिया है और उसी के आदेशानुसार वह अभ्यास करता है। उसके लिए यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि उसे सही रास्ते पर ले जाया जा रहा है या नहीं। उन लोगों के सम्मुख जो साक्षात्कार संबंधी विषयों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, यह एक बड़ी समस्या है। हमें ऐसे असंख्यों धर्म-शिक्षक मिलेंगे जो लहसुन, प्याज, गाजर, आदि खाना मना करेंगे एवं ऐसी साधनायें और क्रियायें करने पर बल देंगे जिनकी कोई वास्तविक महत्ता नहीं है; अथवा उसी प्रकार की सैकड़ों निरर्थक बातें बतलाएँगे जो हमें सत्य की ओर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकतीं। यह कोई प्रशिक्षण नहीं है। ऐसे शिक्षक, वास्तव में स्वयं अपने को साथ ही साथ उनको भी, जिन्हें वे शिक्षा देते हैं, धोखे में डालते हैं। हमें निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि जब तक अपनी उस साधना के

स्वाभाविक परिणाम के रूप में हमें आन्तरिक शान्ति, मन की निश्चलता, सरलता एवं हल्केपन का अनुभव न होने लगे तब तक हम गलत राह पर हैं और हमारा प्रशिक्षण दूषित है।

आजकल अधिकांश धर्मोपदेशकों द्वारा साधारणतया अपनाई जाने वाली आध्यात्मिक प्रशिक्षण विधियाँ इतने कठोर नियमों पर आधारित होती हैं कि वे बहुधा हमारे सांसारिक जीवन से मेल नहीं खातीं। अत: वे उन लोगों के लिए जो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हैं, अव्यावहारिक सिद्ध होती हैं। साधारणतया, शिक्षकगण, लोगों को सांसारिक वस्तुओं से असंबद्ध किसी विशेष प्रकार की जीवन-चर्या अपना कर संयम करने को प्रोत्साहित करते तथा घंटों पूजा-पाठ करने को कहते हैं। इस प्रकार का प्रशिक्षण जन-साधारण के लिए नहीं है क्योंकि वे अपने को सांसारिक बन्धनों से अलग नहीं कर सकते अथवा पूजा-पाठ में इतना अधिक समय नहीं दे सकते। यही कारण है कि उनके उपदेश वांछित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाते तथा भरसक प्रयत्न करने पर भी लोगों को तद्रूप बना सकने में असमर्थ होते हैं। वस्तुत: वे व्यावहारिक न होकर सैद्धांतिक अधिक होते हैं। क्या मोक्ष प्राप्ति के निमित्त संसार त्याग देना जन-साधारण के लिए कभी संभव है? निश्चय ही नहीं। तब फिर उनके उपदेशों से जन-साधारण क्या लाभ उठाते हैं? उनमें से कुछ लोग अपने इस भ्रमपूर्ण विचार की पुष्टि के लिए यह घोषणा करने की धृष्टता करते हैं कि गृहस्थ आश्रम में उच्चतम आध्यात्मिक उपलब्धियाँ संभव नहीं। इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि उनके पास जनसाधारण के लिए बार-बार गंगा-स्नान करना, मछलियों को आटे की गोली खिलाना, धार्मिक पुस्तकों का बारंबार पाठ करना आदि कुछ ऊपरी बात बता देने के अतिरिक्त

और कुछ नहीं है। हमारे सामने वास्तविक समस्या कुछ गिने-चुने संसार त्यागी व्यक्तियों को देने की नहीं, वरन् उस जन-साधारण को आध्यात्मिक प्रशिक्षण देने की है जिसे धर्म के अतिरिक्त संसार में ऐसे अनेकों अन्य कर्त्तव्यों का पालन भी करना होता है जिनकी वे आसानी से उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि वे उनमें से एक भी कार्य की उपेक्षा करें तो वे अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जायेंगे। उनके लिए आवश्यक तो यह है कि उनका आध्यात्मिक एवं सांसारिक जीवन, दोनों साथ-साथ चलते रहें, समान ज्योति के साथ; और इसके लिए हमें उचित साधन ढूंढ़ने हैं।

अतः जन साधारण की आध्यात्मिक उन्नति के लिए आज के सांसारिक जीवन से पूर्णतः मेल खाने वाला उचित आध्यात्मिक प्रशिक्षण ही एक आवश्यक चीज है, परन्तु उसकी उपेक्षा दुर्भाग्यवश आज तक हो रही है। इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए हमें अधिकतर बाह्य सहायता की आवश्यकता होती है। यह सहायता गुरु अथवा मालिक से ही प्राप्त हो सकती है जो हमारे भाग्य के निर्माण की क्षमता रखने वाला अकेला ही व्यक्ति है। जब यह सहायता प्राप्त होती है तो आध्यात्मिक जीवन जाग्रत हो उठता है और आत्मा की ऊंची शक्तियाँ हमारी उन्नति के लिए सक्रिय हो जाती हैं।

ऐसी प्रेरणा केवल हमें उस व्यक्ति से लेनी चाहिए जो हम में से उच्चतम योग्यता वाला हो तथा हमारी पहुँच के अन्दर हो और हर समय हमारी कठिनाइयों को सुलझाने के लिए तैयार हो। देवताओं एवं यक्षों या किसी दिवंगत आत्मा को गुरु अथवा मालिक मान कर उनसे प्रेरणा अथवा निर्देशन लेना अधिकतर बहुत खतरनाक होता है। ऐसा ही हाल उन लोगों का भी होता है जो अपनी तथाकथित आन्तरिक आवाज से

निर्देशन लेते रहते हैं। मुझे ऐसे लोग मिले हैं जो अपनी आन्तरिक आवाज पर बहुत बल देते हैं और उसे मन में उत्पन्न होने वाली सभी उलझनों का वास्तविक पथ-प्रदर्शक समझते हैं। हमारे पास ऐसे तथाकथित आन्तरिक आवाज पर भरोसा रखने वाले लोगों के ठोस उदाहरण हैं जो आध्यात्मिक क्षेत्र में पथ-भ्रष्ट कर दिये गये हैं। वास्तव में जिसे वे आन्तरिक आवाज या दिवंगत आत्मा की प्रेरणा समझते हैं वह उनके अनियंत्रित मन का खेल मात्र है। यह अवांछनीय पद्धति यदि कुछ समय तक अपनाई गयी तो मन को अनुचित रूप से इतना अधिक शक्तिशाली एवं सक्रिय बना देती है कि वह स्वयं अपने आप ही प्रश्न करने लगता है तथा उनके उत्तर भी दे लेता है। इसे लोग भ्रमवश यौगिक उपलब्धि की वह दशा समझने लगते हैं जिसमें किसी व्यक्ति को दिवंगत आत्माओं से अन्तः-सम्भाषण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। किंतु, वास्तव में वे उससे बहुत दूर हैं। यह सत्य है कि आन्तरिक आवाज अथवा सच्ची आत्मा की आवाज कभी धोखा नहीं देती, लेकिन इतनी ऊँची पहुँच वाले कितने लोग हैं जो इसे सुन सकें? जो लोग आन्तरिक आवाज के अनुसार चलने का दावा करते हैं उनमें से बहुतों को यह बिलकुल सुनाई भी नहीं पड़ती। वे उस मन की चामत्कारिक प्रक्रियाओं द्वारा ठगे जाते हैं जो स्वयं ही सब कुछ निर्मित कर सकता है। वह तो उनके सामने भयानक भूत-प्रेत उत्पन्न कर सकता है अथवा पेड़ों और पत्थरों से उन्हें विचित्र आवाजें सुना सकता है। यह सब मन की विकृत और अनियंत्रित क्रियाओं के कारण होता है। जब तक मल, विक्षेप एवं आवरण के पर्दे हटा कर मन को पूर्ण शान्ति एवं संतुलन की स्थिति में नहीं ले आया जाता तब तक आंतरिक आवाज से

निर्देशन अथवा प्रेरणा पाना कोई अर्थ नहीं रखता। बहुत से लोग जो आन्तरिक आवाज की आज्ञानुसार अथवा दिवंगत आत्मा के निर्देशानुसार चलने का दम भरते हैं वे वास्तव में अपने ही अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित मन की आज्ञाएँ मानते रहते हैं। यह केवल इन्द्रजाल (hallucination) है। यदि हम यह निकृष्ट आदत डाल लेगें तो सदैव के लिए नष्ट हो जायेंगे। यह हमें निरन्तर मानसिक चिन्ता एवं परेशानी की ओर ले जाता है। मैं एक सज्जन को जानता हूँ जो तथाकथित भक्तों में अग्रणी माने जाते थे। उनका कहना था कि उन्होंने रामायण के रचयिता तुलसीदास की आत्मा से सीधा सम्पर्क स्थापित कर लिया है और उन्हीं को गुरु मान लिया है। कुछ समय तक तो वह अपनी तथाकथित सिद्धि पर बहुत प्रसन्न रहे। बाद में उनमें तथा उनके दैवी गुरु से मतभेद हो गया जो बढ़कर कटु झगड़े में बदल गया। इसके कारण, वे बताया करते थे कि उन्हें निरन्तर शारीरिक तथा मानसिक उत्पीड़न सहन करना पड़ता था जिससे उनका मानसिक संतुलन लगभग छिन्न-भिन्न हो गया और वे बहुत दुखी रहने लगे। दो वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् उन्हें इस कुदशा से छुटकारा दिलाया जा सका। तब कहीं वे समझ सके कि वह सब धोखा अथवा आत्म-प्रवंचना थी, और जिसे वे तुलसीदास की आत्मा से आनेवाली प्रेरणा समझते थे, यथार्थ में उन्हीं के अनियंत्रित मन का जादुई खेल था। इस कष्ट-पूर्ण दशा से छुटकारा पा जाने से वे अब पुनः अपने में शांति एवं संतुलन का अनुभव करने लगे हैं। आन्तरिक आवाज वास्तव में मन की पूर्ण पवित्र अवस्था की आवाज होती है। जब तक मन की समस्त मलिनता दूर नहीं हो जाती, कल्मष धुल नहीं जाते और उसे पूर्ण शान्ति एवं

संतुलन की अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक आन्तरिक आवाज का बोध हो ही नहीं सकता। वस्तुतः जिसका मन पूर्णतः शुद्ध है उसकी आन्तरिक आवाज भी सदैव बोलती है तथा उसमें ऊँची पहुँच वाली मुक्त आत्माओं की प्रेरणा सदैव सतत रूप से बहती रहती है। अतः मन की पूर्ण शुद्धि से पूर्व यह क्रिया स्पष्टतः अत्यन्त खतरनाक होती है और उसके परिणाम अधिकतर बहुत भयंकर होते हैं।

ईश्वर-साक्षात्कार अभी तक अत्यन्त कठिन माना जाता रहा है और उसके लिए अनेक जन्मों तक सतत प्रयत्न एवं कठोर परिश्रम आवश्यक जाना जाता रहा है किंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। ईश्वर सरल है और वैसे ही सरल उपायों द्वारा प्राप्त हो सकता है। (गुरुओं) द्वारा साक्षात्कार के लिए निर्धारित कठिन क्रियाएँ तथा जीवन के कठोर बन्धन आदि ने मिल कर मामले को इतना उलझा दिया है कि लोग साक्षात्कार को अपनी सामर्थ्य तथा शक्ति से परे मानने लगे हैं। मैं पूरी ईमानदारी के साथ यदि कोई सच्चे हृदय से प्रयास करे तो आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि साक्षात्कार बिलकुल कठिन नहीं है। ध्येय प्राप्ति की दृढ़ इच्छा के साथ उचित साधन एवं निर्देशन ही पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए एक मात्र आवश्यक चीज है।

आध्यात्मिक प्रशिक्षण भीतर की सफाई अथवा चक्रों की शुद्धता से प्रारंभ होता है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः आध्यात्मिकता में सही प्रशिक्षण अन्दर की सफाई से प्रारंभ होता है। यदि इसकी उपेक्षा हुई तो यौगिक साधनों से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग होगा। आन्तरिक शुद्धता के लिए हठयोग में अधिकतर शारीरिक क्रियायें बताई

गई हैं जिनमें से कुछ तो जन-साधारण के लिए अत्यन्त कठिन एवं थकाने वाली हैं। पर सहजमार्ग पद्धति में यह सफाई सरल मानसिक अभ्यासों द्वारा सहज संभव है। इस कार्य में प्रशिक्षण द्वारा संचरित शक्ति सहायता करती है। कुछ धर्म-शिक्षक कभी-कभी इस बात पर जोर देते हैं कि लोग लगभग आठ घण्टे प्रतिदिन कुछ क्रियाएँ यंत्रवत करते रहें जिससे उनका मन दैवी विचारों में लगा रहे। मैं मन को थका देने या बोझिल बना देने की क्रियाओं वाले ऐसे प्रशिक्षण की अत्यन्त भर्त्सना करता हूँ। इस प्रकार के प्रशिक्षण का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि मन को विकसित होने का कोई अवसर नहीं मिल पाता और इसलिए साक्षात्कार की शक्ति मन्द पड़ जाती है। यह तो वैसा ही है जैसे किसी बालक को एकाग्र चित्त कराने के लिए उसे पीटना। अत: मन को मोड़ने अथवा चक्रों की सफाई के लिए शिक्षक-गण जो कठिन परिश्रम वाली लम्बी एवं कड़ी शारीरिक साधनाएँ साधारणतया बताया करते हैं उनसे कोई अधिक लाभ नहीं होता। इसके लिए तो एक शक्तिशाली गुरु की देख-रेख में हम अपनी विचार शक्ति का उचित ढंग से प्रयोग करते हैं–ऐसा गुरु जिसमें हमारी प्रगति में बाधा डालने वाली सभी कठिनाइयों और उलझनों को दूर करने तथा हमारे आध्यात्मिक जीवन को बनाये रखने के लिए प्राणाहुति द्वारा आवश्यक शक्ति प्रदान करने की क्षमता हो। आध्यात्मिक प्रशिक्षण की इस सरल पद्धति ने हर स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध, गृहस्थ, अथवा विरक्त को उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त करा देना संभव बना दिया है।

सही प्रकार के प्रशिक्षण का प्रारंभिक चरण यह होता है कि अभ्यासी के मन की प्रवृत्तियाँ ईश्वरोन्मुख हों जायँ। इसके लिए, विज्ञ धर्म-शिक्षक धार्मिक पुस्तकों में पढ़ी हुई शरीर और मन

की साधनाएँ अधिकतर बतलाते हैं। लोगों को वैसा करना अत्यन्त कठिन लगता है, और इस प्रकार वे प्रारंभिक अवस्था में ही बिना कोई प्रगति किए अनिश्चित काल तक भटकते रहते हैं। एक योग्य गुरु को चाहिए कि अभ्यासी की प्रवृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करने के लिए वह स्वयं प्रयास करें और गहरे तथा स्थायी प्रभाव के लिए प्राणाहुति की शक्ति का प्रयोग करें। जब हमारा मन ईश्वरोन्मुख हो जाता है तो हम स्वयं स्वभावतः अपने सभी क्रिया-कलापों में उस परम शक्ति के सान्निध्य का अनुभव करने लगते हैं। जब यह मनःस्थिति स्थायी हो जाएगी तो हम जो भी करेंगे वही मानो भक्ति अथवा ईश्वर-पूजा का अंग बन जायेगा और इस प्रकार हम सदा केवल ईश्वर के सतत स्मरण में लीन रहेंगे। उपर्युक्त विधि से साधक अपने हृदय में आन्तरिक स्पन्दनों का अनुभव शीघ्र ही करने लगता है। यही शब्द या अजपा नामक आध्यात्मिक स्थिति का प्रारंभ है। ज्यों-ज्यों हम उचित निर्देशन में उचित मार्ग पर अग्रसर होते हैं यह दशा हममें स्वतः विकसित होती है। कुछ लोग जो दीर्घ काल तक बाह्य रूप से जप करते रहते हैं उनको कभी-कभी ऐसा लगता है कि नींद में भी वे उसी प्रकार जप कर रहे हैं। इस को वे भ्रमवश 'अजपा' या 'शब्द' समझते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। सतत अभ्यास के कारण उनके हृदय एवं जिह्वा इसके अभ्यस्त हो जाते हैं और जब वे सोते अथवा अन्य किसी प्रकार से अचेत रहते हैं तो भी यह क्रिया वैसी ही होती रहती है। पर यदि वे इसे कुछ समय के लिए बन्द कर देते हैं तो वह दशा भी समाप्त हो जाती है। यह केवल आदत के कारण होती है। यह अजपा की वास्तविक दशा नहीं है। यह विश्वास कि अजपा की दशा एक ऊँची आध्यात्मिक उपलब्धि

है जो वर्षों के कठिन परिश्रम से प्राप्त होती है, सही है, लेकिन, प्राणाहुति के द्वारा उचित प्रशिक्षण से यह कुछ ही दिनों या सप्ताह की बात हो जाती है। इस प्रकार से उत्पन्न स्पन्दन कुछ समय तक हृदय में रहते हैं। तत्पश्चात् धीरे-धीरे वे दूसरे चक्रों में फैलते हुए अन्त में शरीर के प्रत्येक कण में व्याप्त हो जाते हैं। तब उसे "अनहद" कहते हैं। इसके लिए, जैसा हमारे मिशन में बताया गया है, अनुसरणीय विधि किसी योग्य निर्देशन में ध्यान करना है। सबसे अधिक उपयोगी एवं सफलता दिलाने वाली कदाचित् यही एकमात्र विधि है।

साधारणतः लोग शिकायत करते हैं कि ध्यान करते समय मन में असंख्य विचार आते हैं। वे सोचते हैं कि जब तक वे अपने मन को एक स्थान पर बिलकुल स्थिर न कर दें तब तक अपने अभ्यास में वे असफल हैं। पर ऐसा नहीं है। हम एकाग्रता का नहीं अपितु केवल ध्यान का अभ्यास करते हैं। मन में आने वाले बाह्य विचारों की परवाह न कर हमें ध्यान में लगा रहना चाहिए। विचारों का यह प्रवाह हमारे सचेतन मन के कारण होता है, जो सदैव चंचल है। हम अपने अवचेतन मन के द्वारा ध्यान में लीन रहते हैं जब कि हमारा सचेतन मन इधर-उधर भ्रमण करता रहता है तथा विभिन्न विचार धारण करता रहता है। अतः हम किसी प्रकार घाटे में नहीं रहते। धीरे-धीरे काफी अभ्यास के उपरान्त सचेतन मन भी परिवर्तित होकर अचेतन मन के अनुरूप कार्य करना प्रारंभ कर देता है। इसका परिणाम अत्यन्त गहरा तथा स्थायी होता है और अन्त में शान्ति, जो आत्मा की विशेषता है, प्राप्त हो जाती है।

कभी-कभी मैंने देखा है कि पूजा कराते समय प्रशिक्षक

अपनी इच्छाशक्ति से मन की स्वाभाविक क्रिया को रोक देते हैं जिससे अस्थायी भाव-शून्यता की दशा अथवा मस्तिष्क में निलम्बन की दशा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की दशा निःसंदेह आरंभिक अभ्यासी को, जो सत्य से अनभिज्ञ है, अत्यन्त आकर्षक लगती है। वह शक्ति के इस असाधारण प्रदर्शन से बहुत प्रभावित हो जाता है। मेरे विचार में यह केवल एक जादूगरी है जिसे वे लोग करते हैं जो अपनी गुरुता के प्रदर्शन के लिए आतुर रहते हैं। मैं इसे आध्यात्मिक गुरु की शक्तियों का सब से बड़ा दुरुपयोग कहूँगा जिसका उद्देश्य अपनी महत्ता सिद्ध करने के अतिरिक्त कदाचित् और कुछ नहीं होता। यह गलत क्रिया है और साधक की आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त हानिकारक है। इस प्रकार से दमित या निरुद्ध विचार शीघ्र ही दूनी प्रतिक्रिया करने लगते हैं और शरीर की समस्त प्रणाली को बिगाड़ देते हैं। साथ ही साथ, यह विधि भीतरी भारीपन तथा बुद्धि मन्दता उत्पन्न कर देती है। बहुत दिनों तक इस अभ्यास का विषय बने रहने वाले व्यक्ति का विवेक कुण्ठित हो जाता है और साक्षात्कार करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है। धीरे-धीरे वह बिलकुल भ्रष्ट हो जाता है और सच्चे आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए एकदम बेकार हो जाता है। यदि किसी को दिन प्रतिदिन अधिक हल्कापन महसूस न होता जाय, तो उसे समझ लेना चाहिए कि वह एक गलत आध्यात्मिक प्रशिक्षण पा रहा है। मन तथा आत्मा का निरन्तर हल्का होते रहना आध्यात्मिक उन्नति का निश्चित प्रमाण है।

अतः असली आध्यात्मिक प्रशिक्षण वह है जो हमारे मन को नियमित एवं संयमित करता है, हमारी इन्द्रियों और

प्रवृत्तियों में समभाव स्थापित करता है तथा आत्मा में हल्कापन लाता है। यदि ऐसा हो जाय तभी समझना चाहिए कि शान्ति और निश्चलता अब निश्चित मिलेगी और उच्चतम स्थिति की प्राप्ति संभव हो सकेगी। इसके लिए प्राणाहुति की शक्ति से सम्पन्न उच्च क्षमता वाले सुयोग्य गुरु का माध्यम परम आवश्यक है। ऐसे गुरु के प्रति साधक को पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ समर्पण अवश्य कर देना चाहिए।

कुछ लोग सोचते हैं कि केवल दीक्षा ही उनके जीवन की समस्या सुलझा देने के लिए यथेष्ट है। यदि वे किसी प्रकार किसी गुरु से दीक्षा प्राप्त कर लेते हैं तो वे किसी और अभ्यास या प्रयास की आवश्यकता नहीं समझते। वे सोचते हैं कि गुरु का मात्र सहारा या प्रोत्साहन ही अन्त में उनको माया तथा संस्कार के जाल से बाहर निकाल देगा और मोक्ष की ओर ले जायेगा। यह विचार यद्यपि अक्षरशः सत्य है परन्तु यह तब तक बहुत सहायक नहीं हो सकता जब तक हम गुरु के प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित न कर दें और गुरु भी असाधारण प्रतिभा का न हो। गुरु के हृदय में सर्वप्रमुख विचार यद्यपि शिष्य की भलाई एवं उन्नति का ही रहता है, और उसके लिए वह यथासंभव प्रयत्न भी करता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम स्वयं कुछ न करते हुए आलसी बने रहें और अपने कार्य का भार गुरु पर छोड़ दें। आत्मोन्नति के लिए यथासंभव हम स्वयं प्रयत्न करें, अपना कर्तव्य समझकर गुरु को अपने ऊपर अनावश्यक परिश्रम करने से बचाने का भरसक प्रयत्न करें तथा किसी भी हालत में अपने हिस्से में पड़े कर्तव्य की अवहेलना न करें।

अधिकतर धर्म के शिक्षकों ने साधक में कतिपय आध्यात्मिक अवस्थाएं उत्पन्न करने के निमित्त कृत्रिम विधियों का उपयोग किया है, पर, यह ढंग अत्यन्त दोषपूर्ण है। ज्ञान की साधना के लिए तथा साधक में, 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति उत्पन्न करने के लिए वे उसे बाह्य रूप से ध्यान करने की सलाह देते हैं तथा वही चीज बार-बार सोचने तथा वे ही शब्द हर क्षण दोहराने को कहते हैं। यह एक यांत्रिक विधि है तथा आन्तरिक स्थूलता उत्पन्न करती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की सच्ची स्थिति ऐसी कृत्रिम विधियों द्वारा कभी उत्पन्न नहीं की जा सकती। बारम्बार शब्दों को दोहराते रहने से उसकी जिह्वा अभ्यस्त हो जाती है और वे ही शब्द उसके मुख से हर क्षण निकलते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना, कि वह सच्चे अर्थ में ज्ञानी हो गया है, बड़ी मूर्खता है, वे सैकड़ों बार शब्दों को दोहरा सकते हैं और अपने विचारों पर हर क्षण दबाव डालकर सोच सकते हैं कि हर वस्तु ब्रह्म है फिर भी वे उससे उतने ही अधिक दूर हो सकते हैं जितने पहले थे। यह अभ्यास उसके चारों ओर एक कृत्रिम वातावरण उत्पन्न कर देता है जो उसे बाह्य रूप से उसी वस्तु को सोचने विचारने में सहायक होता है। शब्दों के बार-बार दोहराने की आदत छोड़ देने पर यह दशा गायब हो जाती है। अतः यह बिलकुल स्पष्ट है कि इस प्रकार की तथाकथित उत्पन्न हुई 'अहं ब्रह्मास्मि' को स्थिति वास्तव में सच्ची नहीं वरन् केवल झूठी एवं काल्पनिक है। इसके अतिरिक्त, 'अहं ब्रह्मास्मि' की सच्ची स्थिति भी, जो साधारणतः अत्यन्त ऊँची उपलब्धि मानी जाती है, वास्तव में वैसी नहीं। इस स्थिति में यद्यपि मनुष्य को माया के जंजाल से कुछ मुक्ति मिल जाती है फिर भी वह उसकी अन्तिम सीमाओं से

पार नहीं होता। अहं का भाव इस स्थिति में भी विद्यमान रहता है, जो स्थूलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यद्यपि उसका रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। मंच पर खड़े होकर जो उपदेश देते हैं कि यह ज्ञान का सर्वोच्च रूप है तथा इसके परे कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता वे वास्तव में बड़े भ्रम में हैं। यह हमारा लक्ष्य नहीं है, आगे की अवस्था पर पहुँचने के लिए हम केवल इसके पास से गुजरते हैं। इसे सत्य अथवा अन्तिम लक्ष्य मानकर जो लोग इससे चिपके रह जाते हैं वे बहुत बड़ी गलती करते हैं। हमें अन्ततोगत्वा ऐसे बिन्दु पर पहुँचना है जहाँ सब कुछ समाप्त हो जाता है—'अहं' या 'मैं' का भी भाव नहीं रह जाता।

यही पूर्ण अनस्तित्व की स्थिति है जिसे हमें अन्ततः प्राप्त करना है और जहाँ 'अहं' या 'मैं' की चीख भी अर्थहीन हो जाती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति मूलतः उस चैतन्यता से उत्पन्न होती है जिसका विकास हमारे भीतर सुयोग्य पथ-प्रदर्शक के निर्देशन में यात्रा करने पर स्वतः होता रहता है। यह हमारे अन्दर स्पन्दन उत्पन्न करती है जिसके परिणाम-स्वरूप मन उन्हीं स्पन्दनों को प्रतिध्वनित करना आरंभ करता है। मन की यह स्थिति आध्यात्मिक उन्नति की प्रत्येक अवस्था में तीन रूपों में प्रकट होती है : 'मैं ब्रह्म हूँ', 'सब कुछ ब्रह्म है', और 'ब्रह्म से सब है'। इन तीनों आयामों में अनेकता में एकता की अनुभूति के ही अलग-अलग रूप अभिव्यक्ति पाते हैं। यह पिण्ड देश में अपरिमार्जित रूप में होती है; ब्रह्माण्ड मण्डल में अधिक परिमार्जित एवं सूक्ष्म हो जाती है; और परब्रह्म मण्डल में अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है। ये सारी दशाएँ अध्याय

दो के चित्र में दिखाए हुए सोलह वृत्तों में से प्रथम वृत्त में ही समाप्त हो जाती हैं।

अतः आध्यात्मिकता के साधक को सही प्रशिक्षण के लिए एक सच्चे सुयोग्य गुरु के निर्देशन में आन्तरिक सफाई या चक्रों की शुद्धता और इन्द्रियों एवं अन्य वृत्तियों के पूर्ण संयमित व्यवहार पर उचित ध्यान देते हुए साक्षात्कार के पथ पर सहज रूप से अग्रसर होना चाहिए।

अध्याय ६

श्रद्धा

इच्छा, श्रद्धा एवं विश्वास ही वे मूल तत्त्व हैं जिनसे साक्षात्कार-पथ का पथिक सरलता से सफलता प्राप्त कर सकता है। सत्य को प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा का अर्थ है कि हमारे भीतर आत्मज्ञान के लिए जागरण उत्पन्न हो गया है। हम इस विचार को लेकर आगे बढ़ते हैं और एक मार्ग चुन लेते हैं। इस संबंध में पहली बात जिसे हमें भली प्रकार समझ लेना है, यह है कि जो भी मार्ग हम चुनें वह सर्वथा सही हो तथा हमारे लक्ष्य तक सीधा जाता हो। अतः हमारे मन में अन्तिम लक्ष्य का एक स्पष्ट एवं निश्चित विचार होना अत्यन्त आवश्यक है। भिन्न-भिन्न लोगों का अन्तिम लक्ष्य कई अर्थों में भिन्न-भिन्न हो सकता है और इसलिए उसकी प्राप्ति के साधन भी विभिन्न हो सकते हैं। इस प्रकार हमें अन्तिम लक्ष्य—जिसकी प्राप्ति के लिए हम में उत्कट इच्छा है—की ओर सीधे ले जाने वाला मार्ग चुनना है। इस विषय में जल्दबाजी का निर्णय बहुधा निराशाजनक सिद्ध होता है क्योंकि बहुत संभव है कि जो मार्ग अपनाने के लिए हमें प्रेरित किया गया है वह हमारे लक्ष्य के लिए सही न हो। बहुधा गलत मार्ग अपनाने से असली वस्तु आँखों से ओझल हो जाती है और हम भ्रम तथा मिथ्या धारणाओं के शिकार हो जाते हैं। यदि हम उसी रास्ते पर चलते जायें तो सत्य के अंतिम बिंदु तक पहुँचना असंभव हो जाता है। यह बहुधा तब होता है जब हमें अभाग्यवश

दोषपूर्ण निर्देशन एवं गलत प्रशिक्षण मिलता है। अतः यह प्रारंभ में ही अत्यन्त आवश्यक है कि हम भरसक सभी संभव उपायों द्वारा इस बात का प्रयत्न करें कि साक्षात्कार के लिए जो भी मार्ग हम अपनाएँ वह वास्तव में सही हो। कोई मार्ग इसलिए नहीं अपना लेना चाहिए कि वह सब से पुराना है, क्योंकि, बदलते हुए संसार एवं समाज के लिए वह सर्वथा असंगत हो सकता है। कोई मार्ग इसलिए भी नहीं अपनाना चाहिए कि बहुसंख्यक लोग उसे मानते चले आये हैं, क्योंकि, यह आवश्यक नहीं कि बहुमत सर्वदा सही हो। बहुमत अधिकतर कुछ थोड़े से चुने व्यक्तियों की राय द्वारा चालित होता है जो स्वयं संभवतः भ्रमित किये गये हो सकते हैं। अपने सभी संभव साधनों द्वारा किसी वस्तु के गुणों की परख करने के लिए हमें पूर्णतया सावधान होना चाहिए। अनुभव एवं तर्क की सहायता से उचित विचार एवं परीक्षण किए बिना हमें जल्दी में कभी कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। अन्त में जब हम उसके गुणों से सन्तुष्ट हो जायँ तो हमें श्रद्धा एवं दृढ़ता के साथ उसमें लगा रहना चाहिये। इस प्रकार से की गई श्रद्धा वास्तविक एवं स्थायी होगी। वस्तुतः किसी मोहक सांसारिक उपलब्धि के प्रदर्शन तथा बाह्य रंगरूपों के आकर्षणों के प्रलोभन द्वारा उत्पन्न श्रद्धा श्रद्धा नहीं, प्रलोभन मात्र है। इसका कोई दृढ़ आधार नहीं होता और थोड़ी भी विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न होते ही इसका तिरोधान हो जाता है।

ठोस पदार्थों से बनी मूर्तियों की स्थूल ढंग की पूजा करने तथा आकारों, प्रतीकों एवं कर्म-काण्डों से अंधश्रद्धा पूर्वक चिपके रहने से वास्तविक श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। यह तो विशुद्ध भौतिकता है। जो

इसका अनुसरण करते हैं उनके हृदय में सच्ची श्रद्धा के बजाय पक्षपात उत्पन्न होता है। उन्हें जो जैसा समझा दे, बिना तर्क एवं बुद्धि लगाए अन्धों की तरह मानने लगते हैं। वे किसी अन्य उपाय पर थोड़ा विचार तक करने को तैयार नहीं होते। कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो सत्य तक पहुँचाने वाले किन्हीं दूसरे सीधे रास्तों की उपयुक्तता तो स्वीकार करते हैं किंतु कहते हैं कि वे अपने रास्ते को नहीं छोड़ सकते क्योंकि उसे वे बहुत दिनों से अपनाते चले आ रहे हैं। सच तो यह है कि सत्य में उनकी कोई श्रद्धा नहीं। उनकी श्रद्धा तो केवल रूपों एवं प्रतीकों में है जिसको सही अर्थ में पक्षपात ही कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनका दृष्टिकोण सीमित है और वे सत्य की खोज के लिए ऊँचे नहीं उठना चाहते। उनके भाग्य पर ताला लग जाता है और वे उसी संकुचित क्षेत्र में हमेशा के लिए पड़े रहते हैं। वास्तव में, जो हमें ऊँचा उठने से रोक कर नीचे रखती है, उसे श्रद्धा नहीं कहा जा सकता। अतः हर एक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह विश्वास तथा श्रद्धा के साथ अपनी दृष्टि परम सत्य पर रखे तथा आत्म-साक्षात्कार में सहायक उपायों को प्रयोग में लाये। ऐसा करने पर ही हम उस अंतिम बिन्दु तक चलते जाते हैं जहाँ हमें अपना वही शुद्ध रूप प्राप्त हो जाता है जो सृष्टि के आदि में था। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने संस्कार, माया और अहंकार के बोझ को छोड़कर हर कदम पर हल्के होते हुए आगे बढ़ें। स्थूल प्रकार की पूजा से उत्पन्न होने वाला मन का भारी-पन तथा आन्तरिक स्थूलता हमारे आध्यात्मिक विकास में सबसे बड़ी बाधा है। इसे दूर रखना चाहिए। यदि हम उसे सदा बढ़ने वाली तीव्रता के साथ अपनाएं रहेंगे तो हम शाश्वत

आनन्द के क्षेत्र से बहुत दूर स्थूलता एवं भ्रम की झाड़ियों में सदा फँसे रहेंगे।

आध्यात्मिक जीवन का दूसरा महत्वपूर्ण साधन गुरु के प्रति श्रद्धा है क्योंकि जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, उच्चकोटि की आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए योग्य गुरु की सहायता अनिवार्य है। केवल वही एक माध्यम है जिसके द्वारा साधक में दैवी प्रेरणा आती है। इसलिए, यह अत्यन्त आवश्यक है कि जो पथ-प्रदर्शक हम चुनें वह उच्चतम योग्यता वाला तथा उच्च व्यावहारिक उपलब्धियों वाला हो। पथ-प्रदर्शक की सच्ची योग्यता का निर्णय करने के लिए हमें कुछ समय तक उसके साथ रहकर अपनी शक्ति भर हर तरह से उसे परखना चाहिए। जब हमें, इस प्रकार, तर्क एवं अनुभव द्वारा उसकी योग्यता में विश्वास हो जाय तब हम उसे गुरु मान लें और उसके पथ-प्रदर्शन को स्वीकार कर लें। यदि हम इस सिद्धान्त की उपेक्षा करेंगे तो हम परखने में संभवतः धोखा खा सकते हैं। किसी के ज्ञान-प्रदर्शन तथा ऊपरी दिखावे से आकर्षित होकर आँख मूँद कर उसका कभी अनुसरण नहीं करना चाहिए। किसी के गुणों की सच्ची परख के लिए हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में उसकी व्यावहारिक उपलब्धियों पर ध्यान देना आवश्यक है। हमें उसमें उस असली वस्तु को जिसकी हम इच्छा करते हैं, ढूँढ़ना चाहिए। जब हम इस प्रकार संतुष्ट हो जाते हैं तो स्वभावतः उसके लिए एक आन्तरिक आकर्षण का अनुभव करने लगते हैं और केवल उसे ही अपना भाग्यविधाता मानने लगते हैं। यह भावना धीरे-धीरे श्रद्धा में विकसित होती है और हम उससे प्रेम करने लगते हैं। हम उसके व्यक्तित्व के प्रति उचित आदर भाव रखते हुए उसके विचारों को

स्वीकार करते हैं और उसके पथ प्रदर्शन में आगे बढ़ते हैं। इस अध्यात्म यात्रा में होने वाली उपलब्धियों का हमें जैसे जैसे अनुभव होता जाता है वैसे ही वैसे अपने गुरु की असाधारण क्षमता के हम और भी कायल होते जाते हैं और उसे एक अलौकिक प्राणी के रूप में देखने लगते हैं। अब हमारी श्रद्धा हमारे आध्यात्मिक विकास में अत्यन्त सहायक होती है। वह शंकाओं के बादलों तथा अनिश्चितता को दूर करती है और सारी कठिनाइयों और बाधाओं को हमारे मार्ग से हटाती रहती है। वास्तव में श्रद्धा आध्यात्मिकता के महल की नींव है। सत्य में श्रद्धा, साक्षात्कार के लिए अपनाए उचित मार्ग में श्रद्धा, उस योग्य गुरु में श्रद्धा जिसकी शरण में हम गये हैं—वह चट्टान है जिस पर हमें आध्यात्मिकता का महल बनाना चाहिए, यदि हम वास्तव में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। इसके द्वारा हम में एक ऐसी आन्तरिक शक्ति आ जायेगी जो उन दोषों को पूरी तरह नष्ट करने में समर्थ होगी जिनसे हम घिरे हुए हैं। यह हमें जब आवश्यकता होगी, शुद्ध दैवी प्रेरणा प्राप्त कराने में सहायक होगी।

कुछ लोग श्रद्धा का बड़ा भ्रामक अर्थ लेते हैं। उनका विश्वास है कि केवल श्रद्धा ही जीवन की सारी समस्याओं को सुलझाने के लिए काफी है चाहे वे कोई भी मार्ग क्यों न अपनाएँ अथवा किसी भी और कैसे भी पथ-प्रदर्शक की शरण में क्यों न हों। इस निरर्थक धारणा से बढ़कर भ्रामक कदाचित् और कुछ नहीं हो सकता। क्या किसी व्यक्ति के लिए कलकत्ता पहुंचना कभी संभव हो सकता है यदि वह बिलकुल उल्टी दिशा में चल पड़े ? क्या कभी कोई स्वार्थी पाखण्डी के निर्देशन में निःस्वार्थी सन्त बन सकता है? क्या कभी कोई मनुष्य

सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति रखने वाले तथा अपने ही अभ्युदय की भावना से प्रेरित किसी एक अभिमानी पाखण्डी का अनुसरण कर अपने को मोह, पक्षपात तथा अभिमान के बन्धनों से मुक्त कर सकता है? हमें किसी वस्तु की ऊपरी चमक-दमक मात्र से भ्रमित नहीं होना चाहिए अपितु असली सत्य की खोज के लिए उसकी गहराई में जाना चाहिए। ज्ञान के वाह्य प्रदर्शन, ववतृत्व-कला अथवा शक्ति से चमत्कृत होकर अगर हम आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित होंगे तो इससे हमारी अंध श्रद्धा ही सिद्ध होगी और इसका परिणाम विनाशकारी होगा। एक विवेकवान् व्यक्ति उन झूठे दिखावों के भुलावे में कभी नहीं आयेगा, जिनका आध्यात्मिक क्षेत्र में कोई महत्त्व नही है। अंध-श्रद्धा निःसन्देह तभी लाभदायक होती है जव हमारा चुना हुआ मार्ग भाग्यवश सही हो तथा हमने जिसको पथ-प्रदर्शक चुना है वह भी उच्चतम क्षमता वाला सचमुच ठीक व्यक्ति हो और अभिमान एवं आसक्ति की सभी भावनाओं से सर्वथा रहित हो। ऐसे गुरु में हमारी अटूट श्रद्धा हमें आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा देगी क्योंकि तब हम सत्य अथवा वास्तविकता के साथ जुड़े हुए रहेंगे।

श्रद्धा, सच्चे अर्थों में, मर्त्य को अमर्त्य से जोड़नेवाली एक सजीव कड़ी है। यह निश्चय ही उस मालिक के माध्यम से होती है जो स्वयं उस अमर्त्य से संबंधित है। एक वार जुड़ जाने पर यह कड़ी कभी नहीं तोड़ी जा सकती और यात्रा के अन्तिम बिन्दु पर पहुँचने तक हर समय हमारे साथ रहती है। यह योग के तीसरे साधन की षट्-सम्पत्तियों में से एक है। इस अवस्था में श्रद्धा सच्ची एवं शुद्ध होती है तथा इतनी सुदृढ़ता से स्थापित हो जाती है कि मनुष्य एक क्षण के लिए भी

इससे विलग नहीं हो सकता पर इसके कारण उसकी समझ से परे हैं। इस अवस्था के पहले, श्रद्धा वास्तव में कृत्रिम होती है और कई बार विभिन्न कारणों से बनती, विलुप्त होती, और पुनः आ जाती है। एक योग्य गुरु, इस पर कभी निर्भर नहीं रहता और शिष्य में उत्पन्न होने वाले प्रेम एवं भक्ति के उत्कट भावावेशों को चुपचाप निभाते हुए शान्तिपूर्वक उस समय की प्रतीक्षा करता है जब शिष्य श्रद्धा की उस अंतिम दशा पर पहुँच जाएगा जिसका वर्णन योग के साधन-चतुष्टय में किया गया है। यहाँ आकर सच्ची श्रद्धा आत्म-समर्पण का रूप धारण कर लेती है। सच्ची श्रद्धा वास्तव में एक अव्यक्त गुण है जो धर्म की सीमा से परे है; यह वह अदम्य साहस है, जो हमें सफलता की ओर ले जाता है; यह वह सर्वव्यापक शक्ति है जो हमारा मार्ग प्रशस्त करती है; यह वास्तव में एक ही वस्तु है जो हमारे जीवन की समस्या का समाधान करती है।

अध्याय ७

सतत स्मरण

दुनियादारी में फंसे अधिकतर लोगों का जीवन इतना कठोर और दुःखमय होता है कि वे सदा किसी न किसी समस्या में उलझे रहते हैं और उनका बहुधा यह विश्वास हो जाता है कि वे भक्ति या पूजा के लिए शायद ही कोई समय निकाल सकें। वे सोचते हैं कि यदि वे पूजा के लिए समय निकालेंगे तो उन्हें महत्त्वपूर्ण और आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद ऐसे अनेक कार्यों की अवहेलना करनी पड़ेगी जिन्हें वे आसानी से नहीं छोड़ सकते। यह विचार उनको कर्त्तव्य-पथ से दूर रखता है, यद्यपि कभी-कभी इसका भान उन्हें हो जाया करता है। उनका मन भौतिक जीवन की विविध समस्याओं को सोचने में हर क्षण डूबा रहता है और घोर विपत्ति या मुसीबत के दिनों को छोड़कर ईश्वर की ओर बहुत कम जाता है। इसका कारण यह है कि वे उन सांसारिक लाभों को ही प्रमुखता देते हैं जिनका ध्यान वे निरंतर करते रहते हैं। इसलिए, वे माया के जंजाल में उलझे पड़े रहते हैं और कभी उसके बाहर निकलने की नहीं सोचते। यदि हम अपना ध्यान ईश्वर की ओर लगा दें और साक्षात्कार को अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझें तो स्वभावतः हम संसार की अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा सर्व-प्रथम इसी को महत्व देने लगेंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी सांसारिक जिम्मेदारियों की ओर से उदासीन हो जायें और तत्सम्बन्धित अपने कर्त्तव्यों को भुला दें जिससे हमारी सहायता पर आश्रित रहने वाले परेशानी में पड़

जायँ। हमें सदा उनके तथा ईश्वर, दोनों के प्रति अपने कर्त्तव्य में सजग रहना है, लेकिन बिना किसी अनुचित लगाव या आसक्ति के। इसके लिये हम अपने विश्राम के घण्टों से (विशेषकर सोने के समय) चन्द मिनट निकाल लें और कर्त्तव्य-पथ पर चलने के लिए सहायता एवं पथ-प्रदर्शन के निमित्त सच्चे दिल से ईश्वर से प्रार्थना करें। यदि हम प्रेम एवं भक्तिपूर्ण हृदय से इसे बराबर करते रहें तो यह प्रार्थना कभी भी अनसुनी नहीं होगी।

इस प्रकार जब हममें कर्त्तव्य की भावना जाग उठती है और ईश्वर का भाव हमारे हृदय में प्रमुख हो जाता है तो साक्षात्कार को हम जीवन का मुख्य उद्देश्य मानने लगते हैं। इसके लिए स्वभावतः हमारी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर तीव्र होने लगती है और अपने दैनिक कार्यों की उलझनों तथा व्यस्तताओं के बावजूद हमें ईश्वर का ध्यान बार-बार आता रहता है। हमारे कर्त्तव्य-पथ से विचलित होने का कारण हमारी परिस्थितियाँ या व्यस्तताएँ नहीं, अनियंत्रित मन की दिग्भ्रमित क्रियाएँ होती हैं। ईश्वर के बोध मात्र से मन के अनेक दोषों का उपचार और मार्ग की अनेक कठिनाइयों का निराकरण हो जाता है। इसलिए हमें दुनियादारी के सारे कामों के बीच ईश्वर की याद बनाये रखनी चाहिए।

साक्षात्कार में अपनी अन्तिम सफलता के लिए ईश्वर का स्मरण, यद्यपि बहुत लाभदायक है पर सब कुछ नहीं है। हम आमतौर से कोई महत्वपूर्ण कार्य ईश्वरका नाम लेकर आरंभ करते हैं। लगभग सभी धर्मों में ऐसा करने की प्रथा है। किन्तु, यह केवल एक औपचारिकता मात्र है और इसका कोई वास्तविक महत्त्व नहीं है। हम उस वस्तु को सच्चे अर्थों में ईश्वर को समर्पित नहीं करते

तथा हृदय में ईश्वर के विचार से वास्तव में कोसों दूर रहते हैं। अतः ईश्वर का ऐसा स्मरण निरर्थक है। इस प्रथा का वास्तविक महत्त्व यह है कि हम अपने सभी शारीरिक एवं मानसिक कार्य करते हुए भी ईश्वर के विचार में निमग्न रहें। हम अपने सभी कार्यों में हर क्षण एक अटूट विचारों की कड़ी द्वारा, अपने को परमशक्ति से जुड़ा हुआ महसूस करें। यह क्रिया बड़ी सरलता से हो सकती है यदि हम अपने सभी कार्यों एवं क्रियाओं को उस ईश्वर द्वारा सौंपे गये दैवी कर्त्तव्य का अंग समझें जिसकी हमें भरसक सेवा करनी है। सेवा तथा त्याग दो प्रमुख उपकरण हैं जिनसे हम आध्यात्मिकता के मन्दिर का निर्माण करते हैं। प्रेम इस मंदिर की नींव है ही। किसी भी प्रकार की सेवा यदि निःस्वार्थ भाव से की जाय तो लाभप्रद होती है। सेवा में पूजा का भाव निहित है। अपने साथियों की सेवा वास्तविक अर्थ में ईश्वर की सेवा है यदि वह किसी स्वार्थ-भाव से न की गई हो। हम जो कुछ भी अपने दैनिक कार्यों में करते हैं उन सब का संबंध अपने ही कुछ लोगों से है चाहे वे हमारे बच्चे, मित्र अथवा संबंधी हों। यदि कार्य करते समय हम यह सोचें कि हम वास्तव में ईश्वर के ही बनाए हुए किसी न किसी प्राणी की सेवा कर रहे हैं, अपने उद्देश्य की नहीं, तो हम निरन्तर सेवा के पथ का अनुसरण करते रहेंगे यद्यपि ऊपरी तौर से हम अपनी ही दिनचर्या में व्यस्त रहेंगे। हमारे जीवन की लगभग सभी क्रियाएं अपने बच्चों एवं प्रिय-जनों के जीविकोपार्जन के निमित्त होती हैं। अतः यदि हम उन्हें ईश्वर के बच्चे मान लें जो हमारी देख-रेख में रक्खे गये हैं और जिनके जीवन-निर्वाह एवं सुरक्षा का भार कर्त्तव्य रूप में हम पर सौंपा गया है, तो हम ईश्वर के ही बच्चों की

सेवा करते हैं, जो वास्तव में ईश्वर की ही सेवा है। हम इसके द्वारा अनावश्यक आसक्ति से भी छुटकारा पा जायेंगे और इस प्रकार अपने मार्ग की एक सब से बड़ी बाधा भी हटा देंगे। यह विधि सरल एवं आसान होते हुए भी हमें हमारी सभी क्रियाओं में ईश्वर के सतत विचार की ओर भी ले जायगी। यदि यह बात हमारे हृदय में गहराई से जड़ पकड़ लेती है तो हमें अपना प्रत्येक कार्य निःस्वार्थ और अनासक्त भाव से दैवी आदेशानुसार कर्त्तव्य के रूप में ही प्रतीत होगा।

ऐसी दशा में विश्व-प्रेम प्रबल हो जाता है और हम अनासक्त भाव से ईश्वर की सृष्टि के प्रत्येक प्राणी से प्रेम करने लगते हैं। यह चित्तवृत्ति हमें भक्ति एवं त्याग की ओर ले जाती है। भक्ति हमारा मार्ग प्रशस्त करती है तथा ईश्वरीय धारा के लिए हमारे हृदय में एक रास्ता बनाती है। वह हमारे मार्ग से धूल-धक्कड़ दूर करती है और हमारी यात्रा को आसान बनाती है। यह धूल-धक्कड़ वस्तुतः मन में चिंता और उद्वेग को जन्म देने वाले अंतर्द्वन्द्व से उत्पन्न होती है। ध्यान के द्वारा हमारा मन थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाता है, और जितने समय तक हम दैवी शक्ति के संपर्क में रहते हैं शान्ति बनी रहती है। किंतु यदि हम एक निश्चित समय पर ध्यान करने के उपरान्त शेष समय में ईश्वर का कोई ख्याल नहीं करते तो हम उस पवित्र विचार के संपर्क में थोड़ी देर के लिए ही रहेंगे और दिन के अधिकांश भाग में सेवा और भक्ति से विरत रहेंगे। परिणाम यह होगा कि वर्षों की साधना के पश्चात् भी हम अपने को आध्यात्मिक उपलब्धि में पिछड़ा हुआ ही पाएँगे। वास्तव में, समर्थ गुरु के पथ-प्रदर्शन में किये गये ध्यान में हमें केवल

सरलता और शान्ति की ही अनुभूति होती है। परंतु, एक साधक, साधारणत: इसको समझने में असमर्थ होता है क्योंकि प्रारंभिक दशाओं में यह उसकी समझ से परे होती है। शान्ति की इस अनुभूति के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह बहुधा ध्यान के समय कुछ भी अनुभव न करने की शिकायत करता है। इसका मुख्य कारण यह होता है कि वह साधना के कुछ क्षणों तक के लिए ही दैवी शक्ति के संपर्क में रहता है। अत: ध्यान के समय प्राप्त वास्तविक वस्तु उसके पास कुछ ही समय तक के लिए रहती है। दूसरी ओर, एक मनुष्य ध्यान से प्राप्त प्रभाव को अधिकांश समय के लिये अपने में बनाये रखने के लिए प्रयत्न करता है और उसी स्थिति में जितनी अधिक देर तक संभव है, रहता है। वह एक तरह से ईश्वर के सतत स्मरण में है और उसकी प्रगति आसान और तेज हो जाती है।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि जब मनुष्य अपने जीवन में सांसारिक आसक्तियों एवं उत्तरदायित्वों के कारण असंख्य चिन्ताओं एवं उलझनों से घिरा हुआ है तब यह व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता कि वह ईश्वर को सदा और सदा नहीं, तो कम से कम बार-बार ही स्मरण करता रहे। पर, अभ्यास एवं अनुभव से सिद्ध हो जाएगा कि यह एक अत्यन्त सरल विधि है और सभी लोग हर प्रकार की उलझनों अथवा झंझटों के बावजूद इसका अनुसरण कर सकते हैं, यदि वे वस्तुत: अपना ध्यान ईश्वर की ओर मोड़ दें।

सर्वोच्च दैवी शक्ति के रूप में गुरु की परिकल्पना अध्यात्म-यात्रा में अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। हम उसे अलौकिक प्राणी समझ कर उसके पथ प्रदर्शन पर निर्भर रहते हैं। यदि हम अपने व्यस्त दैनिक जीवन के सभी कार्यों को गुरु के प्रति

समर्पित करते हुए चलें तो कल्पना कीजिए कि आगे चलकर इसका कितना अच्छा परिणाम होगा। कोई कार्य करते समय हम यह सोचें कि हम अपने लिए नहीं वरन् गुरु के लिए कर रहे हैं अथवा यह कि गुरु स्वयं ही उसे अपने लिए कर रहा है। नाश्ता करते समय हम यह सोचें कि हमारा गुरु ही यह सब कर रहा है। कार्यालय से लौटते समय मान लीजिए कि हम रास्ते में कोई आकर्षक नृत्य देखते हैं। हमारी आँखें बरबस नर्तकी के आकर्षक रूप से बँध जाती है। हमारी विचार धारा कुछ समय के लिए उस दिशा में प्रवाहित होती प्रतीत होती है। तब यदि हम यह सोचें कि हम नहीं वरन् हमारा गुरु ही नृत्य देख रहा है तो तत्क्षण ही उसके लिए हमारी उत्सुकता समाप्त हो जायेगी; क्योंकि उस प्रलोभन से छुटकारा दिलाने के लिए हमारे भीतर हमारे गुरु की शक्ति प्रवाहित होने लगेगी। जब हम कार्यालय से लौटते हैं तो हमारे बच्चे हमें कई घण्टों के पश्चात् देखकर प्रसन्न होते हैं। उनकी उछल-कूद से हम भी आनन्दित होते हैं, और यह स्वाभाविक ही है। हमारा ध्यान इस प्रकार कुछ देर के लिए उनकी ओर मुड़ जाता है और हम पवित्र बिचार से कुछ दूर से हो जाते हैं। तब हमें यह सोचना चाहिए कि हमारे अन्दर हमारे गुरु ही स्वयं आनन्द ले रहे हैं। हम तब पुनः उसी पवित्र विचार के संसर्ग में आ जायेंगे। यदि हम अपने मित्र से बातें करते हैं तो हम सोचें कि हम नहीं वरन् हमारा गुरु उससे बातें कर रहा है। टहलते समय हम सोचें कि स्वयं हमारा गुरु टहल रहा है। ध्यान के समय यदि हम यह विचार करें कि हमारा गुरु ही स्वयं अपने ही रूप पर ध्यान कर रहा है तो इसका अत्यन्त उत्तम परिणाम होगा। इसी प्रकार हम अपने सभी दैनिक

कार्यों में व्यवस्था कर सकते हैं। यदि हम यह भावना अपना लें तथा यह दृष्टिकोण बनाए रखें कि हमारे स्थान पर हमारा गुरु ही सब कुछ कर रहा है तो हम न केवल हर समय उसके सतत स्मरण में रहेंगे वरन् हमारी क्रियाएँ हमारे ऊपर कोई भी प्रभाव नहीं डालेंगी और शीघ्र ही हमारे संस्कारों का बनना भी बन्द हो जायेगा।

इस विधि का यदि सच्चे हृदय से अनुसरण किया जाय तो गुरु का स्वरूप सदैव हमारे सामने रहेगा तथा हम, अन्दर और बाहर, सर्वत्र उसकी उपस्थिति का अनुभव करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि यथार्थ गुरु केवल उसका बाह्य भौतिक स्वरूप नहीं प्रत्युत उसकी अन्तरात्मा है, फिर भी बाह्य रूप की उपेक्षा करना लगभग असंभव सा है। लेकिन जो लोग केवल उसके भौतिक रूप को ही गुरु माने रहते हैं वे अपने लिए स्थूलतम बाधाएँ एवं उलझनें पैदा कर लेते हैं। ऐसे लोगों को कबीर दास जी ने गुरु-पशु कहा है, जो सर्वथा सही है। किन्तु, यदि गुरु वास्तव में एक महान् दैवी आत्मा है जो परम सत्य में लय हो चुका है तो उसके रूप का ध्यान शिष्यों के लिए अत्यन्त ही लाभदायक है। उसका शरीर बाह्य रूप में स्थूल होते हुए भी वास्तव में उतना ही सूक्ष्म है जितनी कि उसकी अन्तरात्मा। यदि हम ऐसे गुरु के स्वरूप पर ध्यान करते हैं तो न केवल हमारी स्थूलता का ह्रास होने लगता है अपितु गुरु की अन्तरात्मा की सूक्ष्मतम अवस्था भी हमारे हृदय में प्रविष्ट होने लगती है। ध्यान में लिया हुआ गुरु का स्वरूप कुछ समय पश्चात् गायब हो जाता है और धीरे-धीरे हम पूर्ण सत्य के धरातल पर आ जाते हैं। मैंने अपनी पुस्तक "सहज मार्ग के दस उसूलों की शरह"

(Commentary on Ten Commandments of Sahaj Marg) में इसकी व्याख्या की है कि किस प्रकार किसी वस्तु को कुछ देर तक लगातार ध्यानपूर्वक देखते रहने से उसका स्वरूप गायब हो जाता है। इस प्रकार हम अपने आप बाह्य रूप से भीतर की ओर, और फिर वहाँ से असली बिन्दु की ओर, चलने लगते हैं, जहाँ सब कुछ गायब हो जाता है।

अध्याय ८

आत्म-समर्पण

हम ईश्वर से संपर्क स्थापित करने के लिए भक्ति करते हैं। हम उसे श्रद्धा एवं आदर से देखते हैं। हम धीरे-धीरे उससे इतने घनिष्ठ हो जाते हैं कि प्रत्येक अन्य वस्तु हमारी दृष्टि में अपनी महत्ता खो बैठती है। यह मालिक की इच्छा के प्रति समर्पण है, अथवा, दूसरे शब्दों में, आत्म-समर्पण का प्रारंभ है। ज्यों-ज्यों हमारी श्रद्धा बलवती होती जाती है, समर्पण की भावना भी विकसित होती जाती है। समर्पण मन की चंचलताओं को रोकता है और हमें स्थिरता प्रदान करता है। आगे चलकर हम स्वयं को किसी महान् शक्ति द्वारा अभिभूत हुआ अनुभव करने लगते हैं। यह शक्ति हमारे मन को अन्य सभी वस्तुओं से हटा देती है। तब हमारी इन्द्रियाँ केवल सही व्यापारों में ही प्रवृत्त होती हैं और अवांछित व्यापारों से हमें मुक्ति मिल जाती है। आत्म-समर्पण और कुछ नहीं, निजता की संपूर्ण अस्वीकृति के साथ स्वयं को पूरी तरह मालिक की इच्छा पर छोड़ देना है। इस दशा में स्थायी निवास होने पर अभ्यासी में आत्म-निषेध का आरम्भ होता है। जब हम अपने को मालिक के प्रति समर्पित करते हैं तो उससे एक उच्चतम दैवी धारा खींचना प्रारंभ कर देते हैं, इस दशा को पहुँचा हुआ मनुष्य वही सोचता अथवा करता है जो उसके मालिक की इच्छा होती है। वह संसार की किसी वस्तु को अपनी नहीं समझता अपितु सब कुछ मालिक की पवित्र

धरोहर मानता है और सब काम मालिक की आज्ञा समझकर करता रहता है उसकी इच्छा पूर्णतः मालिक की इच्छा के अधीन हो जाती है। समर्पण का एक सुन्दर उदाहरण दशरथ-पुत्र भरत ने हमारे सम्मुख उपस्थित किया है जब वे अयोध्या-वासियों के साथ अपने भाई राम को मना कर लौटाने के लिए वन गये थे। लोगों के विनय करने पर राम ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया कि यदि भरत कहे तो वे अयोध्या लौटने को तैयार हैं। सभी भरत की ओर देखने लगे जो स्वयं राम को लौटने के लिए मनाने गये थे। पर उन्होंने शान्तभाव से उत्तर दिया कि 'मेरा कर्त्तव्य आज्ञा देना नहीं अपितु आज्ञापालन करना है।'

भगवद्गीता भी आत्म-समर्पण की दशा का वर्णन करती है। यह कोई सरलता से प्राप्य साधारण वस्तु नहीं है। यह सभी इन्द्रियों एवं प्रवृत्तियों के पूर्ण निषेध के पश्चात् आरम्भ होती है जिसके लिए हम भक्ति के प्रारम्भिक नियमों द्वारा आगे बढ़ते हैं। हम अपने गुरु को एक अलौकिक पुरुष मानकर उसके प्रति समर्पण करते हैं। हम उनके ध्यानाकर्षण और अनुग्रह प्राप्ति के लिए हर सम्भव प्रयास करते हुए उसे अपनी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम का विषय बनाते हैं। इसके लिए हम केवल अपनी सहूलियत के लिए, उससे कोई सांसारिक संबंध जोड़ लेते हैं। हम उसे पिता, भाई, मालिक अथवा प्रेमिका तक मान लेते हैं। यह विधि यदि सच्चे ढंग से अपनाई जाय तो शिष्य के लिए बड़ी लाभदायक होती है। इस प्रकार स्थापित सशक्त सम्बन्ध उसे भक्ति एवं समर्पण की अवस्था की ओर अग्रसर करता है। मेरे विचार में माता के रूप में गुरु की कल्पना एक शिष्य के लिए अत्यन्त उचित एवं लाभदायक

है। माँ तो प्रेम एवं स्नेह की साक्षात् मूर्ति है; केवल माँ का ही हृदय धैर्यपूर्वक बेटे के द्वारा दिये गये सभी दुःख-दर्दों को सहन कर सकता है और साथ ही साथ अपने पुत्र को सुख-सुविधा देने के प्रयत्न में चिन्तित रहता है। यही स्थिति सच्चे मालिक अथवा गुरु की है जो शिष्य की आध्यात्मिक माँ है। इस प्रकार, गुरु सदैव अपने बच्चे रूपी शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए चिन्तित रहता है। उस परम पिता के साथ इस आध्यात्मिक माँ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए शिष्य जब गुरु से प्रेम का रिश्ता जोड़ लेता है तो परम पिता का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित करने में अनायास सफल हो जाता है। माँ का स्नेह सर्वविदित है, परन्तु लोग गुरु के स्नेह को कम ही जानते हैं, और ईश्वर के स्नेह को उससे भी कम। माँ तथा सच्चे गुरु के कार्य लगभग एक से ही हैं। माँ कुछ निश्चित समय के लिए बच्चे को अपने गर्भ में रखती है। गुरु भी अपनी आध्यात्मिक संतान को कुछ समय के लिए अपने मानस में धारण करता है। उस समय शिष्य गर्भस्थ बच्चे की भाँति उसकी शक्ति खींचता है तथा उसके विचारों की आध्यात्मिक लहरों से पोषण पाता है। उचित समय पर वह दिव्य संसार में जन्म लेता है और वहीं से उसका स्वयं का आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है। यदि शिष्य अपना सब कुछ समर्पित कर गुरु के मनःक्षेत्र में प्रवेश करता है तो उसे दिव्य संसार में भेजने के लिए केवल सात मास ही लगते है। लेकिन सामान्यतः इस प्रक्रिया में काफी समय लग जाता है क्योंकि शिष्य गुरु के मनःक्षेत्र में रहते हुए भी स्वयं अपने विचारों एवं भावनाओं के प्रति सचेत बना रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु की स्थिति बिलकुल माँ के सदृश

है। आध्यात्मिक माँ के रूप में गुरु की धारणा हमारे अन्दर प्रेम, आदर तथा समर्पण की भावनाएँ उत्पन्न करती है जो आध्यात्मिक जीवन की प्रमुख आधार शिलाएँ हैं।

ऋषियों ने शिष्यों को दो प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया है, मनमत तथा गुरुमत। पहली में वे हैं जो गुरु के पास कोई विशेष सांसारिक उद्देश्य, जैसे भौतिक दुःखों से मुक्ति, धन की इच्छा, इत्यादि लेकर जाते हैं। वे केवल उस समय तक उसके अधीन रहते हैं जब तक उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति की आशा रहती है। जब उन्हें उसमें निराशा मिलती है तो भाग खड़े होते हैं। ऐसे शिष्यों के लिए आज्ञाकारिता एवं अधीनता का प्रश्न ही नहीं उठता, समर्पण की कौन कहे। गुरुमत-शिष्य वे हैं जो अपने गुरु की आज्ञाएं मानते हैं और हर सम्भव उपाय द्वारा उसकी इच्छा के अधीन रहने का प्रयत्न करते हैं। अधीनता, आज्ञाकारिता से प्रारम्भ होती है। आध्यात्मिकता में जब हम उच्च स्थिति प्राप्त गुरु की महान् शक्तियों से अत्यन्त प्रभावित होते हैं तो हम उसकी आज्ञाओं का पालन करने के लिए अन्दर से झुकाव महसूस करते हैं। परन्तु बहुधा यह प्रभाव हमारे ऊपर उसी समय तक रहता है जब तक हम उसके सम्मुख रहते हैं; और जब हम दूर होते हैं तो हम उसके प्रति असावधान अथवा उदासीन हो जाते हैं। कुछ समय के लिए उस महान् आत्मा का बार-बार का संपर्क हमें उसके निकट संसर्ग में लाता है और हमारे हृदय पर उसकी श्रेष्ठता स्थापित होने लगती है। हम अपने आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित सभी विषयों में उसे अपना पथ-प्रदर्शक मान लेते हैं। परिणामतः हम उसे बहुधा याद करते हैं। जब हम उसकी श्रेष्ठ क्षमताओं के बारे में पूर्णतः विश्वस्त हो जाते

हैं तभी हमारी अधीनता वास्तविक अर्थ में आरम्भ होती है। हम उसी के साथ चलते जाते हैं, और निर्देशानुसार अभ्यास करते हैं। हम उसे अपने कार्यों द्वारा प्रसन्न करने की सोचा करते हैं। हमारे हृदय में उचित अथवा अनुचित का भी विचार प्रमुखता ग्रहण करना आरम्भ कर देता है और हम बुराई से दूर रहने की सोचने लगते हैं। हम सद्गुणों का पल्ला पकड़ते हैं, जिससे हम अपने महान गुरु को प्रसन्न कर सकें। यह हमारा मूल उद्देश्य है क्योंकि हम अपने आगामी जीवन की कठिनाइयों से बचना चाहते हैं।

पर, जब तक हम निर्णय करने का अधिकार स्वयं अपने तक ही रखते हैं, हम अपने सभी कार्यों के लिए, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, उत्तरदायी हैं। आत्म-समर्पण की कुछ ऊँची अवस्था पर ऐसी निर्णय-बुद्धि लगभग समाप्त हो जाती है, और मनुष्य, प्रत्येक कार्य मालिक की इच्छा समझ कर करता है। उचित-अनुचित का प्रश्न उसके मन में बिलकुल उठता ही नहीं क्योंकि यह बिलकुल निश्चित हो जाता है कि अपने गुरु की इच्छा के अधीन रह कर वह केवल उचित कार्य ही कर रहा है, और वास्तव में, वह उचित के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता क्योंकि वह उसे मालिक की इच्छा समझता है।

अध्याय ६

साक्षात्कार

ईश्वर, आत्मा तथा सृष्टि के रहस्य के संबंध में हम लगभग हर व्यक्ति को किसी न किसी रूप में चर्चा करते हुए सुनते रहते हैं। परंतु, हमें ऐसा व्यक्ति कदाचित् खोजने पर भी न मिलेगा जिसने ईश्वर का साक्षात्कार, या कम से कम उसका परिचय ही प्राप्त कर लिया हो। यही कारण है कि विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों में निरन्तर झगड़ा होता रहता है। वे ईश्वर के संबंध में बहुत बातें करते हैं किन्तु भीतर किसी घोर अनीश्वरवादी से कम नहीं होते। वे बातों से तो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परंतु हृदय से उसकी बिलकुल उपेक्षा करते हुए मालूम पड़ते हैं। उनके लिए ईश्वर की उपयोगिता केवल तभी होती है जब वे किसी दुःख अथवा परेशानी में हों। ऐसे अवसरों पर वे यह आशा करते हैं कि उनके कष्टों को दूर करने के लिए वह उनकी पुकार सुनेगा। वे मुख्यतः अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही उसकी प्रार्थना करते हैं। यह दृष्टिकोण वास्तव में, सच्चे प्रेम एवं भक्ति के भाव से कोसों दूर है। सच्चा भक्त वही है जो ईश्वर से किसी सहायता अथवा सांसारिक लाभ के लिए नहीं, वरन् केवल प्रेम के लिए ही प्रेम करता है। वह सदैव उसकी इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण की स्थिति में रहता है। अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय जो कुछ भी उसे मिलता है वह उसी में पूर्णतः सन्तुष्ट रहता है। उसके

लिए हर्ष-विषाद सब निरर्थक हैं। उसके लिए सब कुछ उसके प्रियतम का वरदान है। ऐसी पूर्ण निर्भरता तथा बिना किसी प्रश्न-चिह्न के हर स्थिति को स्वीकार कर लेना भक्ति की उच्चतम अवस्था है। पर, निर्भरता का यह अर्थ नहीं कि वह आलसी बना रहे, स्वयं कुछ न करे तथा सदा ईश्वर पर, यह सोचकर भरोसा रखे कि ईश्वर यदि चाहेगा तो उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देगा। ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं—यह एक साधारण कहावत है, जो अक्षरशः सत्य है। यदि हम इस लोक अथवा परलोक से संबंधित अपने उत्तरदायित्वों को निभाने का स्वयं प्रयत्न नहीं करते तो हम अपने पवित्र कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। केवल एक ही बात ध्यान में रखने की है कि हम ईश्वर की इच्छानुसार कार्य करें तथा जो कुछ भी परिणाम हो उससे संतुष्ट रहें। जब हम इस स्तर तक आ जायें तो समझ लें कि हम सही अर्थों में ईश्वर के सच्चे भक्त हैं और सत्य की ओर अग्रसर होने के लिए सही रास्ता हमें मिल गया है। सत्य की अनुभूति इंद्रियों द्वारा नहीं, हृदय की असल गहराइयों में ही की जा सकती है। अतः हमें, अपनी जीवन-समस्या सुलझाने के लिए इसमें गहराई तक जाना पड़ेगा।

हमारे मन में इस महती सृष्टि के विषय में यह सर्वविदित धारणा बन गई है कि यह ईश्वर की भौतिक अभिव्यक्ति है। शाश्वत परम सत्य से इसकी भिन्नता दिखाने के लिए हम साधारणतः इसे माया अथवा भ्रम की संज्ञा देते हैं। लोगों ने माया को विभिन्न प्रकार से समझाने का प्रयास किया है और उसका बहुत कुछ उचित आधार भी दिया है। माया, वास्तव में, एक ईश्वरीय शक्ति है जिसने समस्त सृष्टि को उसके विभिन्न

रूपों एवं आकारों सहित उत्पन्न किया है और जो उसकी संपूर्ण गति को नियमित करती है। हम सदा इस महाशक्ति से घिरे रहते हैं और हमारे जीवन व्यापारों के सभी आयामों में इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। हम माया के चमकीले क्षेत्र के भीतर चक्कर काटते रहते हैं और निगाह में आने वाली कभी इस तो कभी उस वस्तु को सत्य समझ कर उससे चिपके रहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ, भावनाएँ तथा संवेग इसे एक नया रंग देते हैं और हम तदनुसार आचरण करने लगते हैं। इस प्रकार हम माया के जाल में बिना किसी निस्तार की आशा के तब तक फँसे रहते हैं जब तक शाश्वत सत्य के मूल की ओर अपना ध्यान न मोड़ दें। भौतिक अभिव्यक्ति का यह बृहद् वृत्त, जो माया का प्रत्यक्ष परिणाम है, निस्सीम है। पहिये के हाल की भांति हम इसमें अविरल गति से चक्कर काटा करते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक वृत्त का एक केन्द्र होता है उसी प्रकार इस अभिव्यक्ति के बृहत् वृत्त का भी अवश्य ही कोई केन्द्र अथवा आधार होगा। यदि हम उसकी खोज कर सकें तो कदाचित् हमें अपनी समस्या की कुंजी मिल जायेगी।

गणित का संपूर्ण विज्ञान लघुतम आधार, शून्य, पर आधारित है। अब हमें इस असीम ब्रह्माण्ड के भी उस शून्य अथवा आधार की खोज करनी है जिससे अस्तित्व के सभी तलों का उद्भव हुआ है। फिर, एक वृत्त का केन्द्र, यदि बहुत गौर से देखा जाय तो, स्वयं ही एक सूक्ष्म वृत्त है। अब उस सूक्ष्म वृत्त का भी कोई सूक्ष्म केन्द्र होना चाहिए। यह क्रम अनंत है। दूसरे शब्दों में, उनमें से प्रत्येक सूक्ष्म एवं छोटा वृत्त एक बड़े एवं बाह्य वृत्त का केन्द्र होता है। इसके आदि अथवा अन्त की खोज में न तर्क को सफलता मिलती है न कल्पना को। इस

प्रकार इस ठोस भौतिक सृष्टि के पीछे एक अन्य सूक्ष्मतर सृष्टि है जो इस बाह्य जगत् का केन्द्र अथवा कारण है। उस सूक्ष्मतर वृत्त के लिए कोई अन्य केन्द्र तथा उस केन्द्र का स्वयं एक और अधिक सूक्ष्म वृत्त होना चाहिए। उसी प्रकार और आगे भी। दूसरे शब्दों में, केन्द्र के अंतरतम में स्थित अकल्पनीय सूक्ष्मतम बिन्दु के चारों ओर ऐसे अगणित वृत्त हो सकते हैं जो अपने से बाद वाले वृत्त का केन्द्र बनते जाते हैं। इनमें सबसे अन्तिम वृत्त हमारा वर्तमान भौतिक अस्तित्व है। अब करना यह है कि हम अपने वर्तमान स्थूल अस्तित्व से पीछे की ओर लौटें तथा क्रमशः सूक्ष्मतर दशाओं की ओर बढ़ते चले जायें, जब तक मनुष्य की पहुँच की अंतिम सीमा को न छू लें। अपनी वर्त्तमान स्थिति में हम स्थूलता के क्षेत्र में, भीतर ही भीतर चक्कर काटते रहते हैं। सूक्ष्मतर प्रदेशों को एक के बाद एक पार करते हुए केन्द्र अथवा मूल कारण की ओर बढ़ते जाना ही हमारी एक मात्र आशा है। अध्यात्म विज्ञान का यही सार है। सूक्ष्मतम से स्थूलतम तक समस्त सृष्टि का मूल-कारण अन्तरतम केन्द्र, आधार अथवा शून्य है। हम उसे ईश्वर अथवा ब्रह्म कह सकते हैं।

मनुष्य की बनावट भी ठीक वैसी ही है जैसी ब्रह्माण्ड की। जिस प्रकार इस स्थूल बाह्य सृष्टि के पीछे असंख्य अन्य सूक्ष्म एवं और भी सूक्ष्मतर प्रकार के अस्तित्व हैं ठीक उसी प्रकार मनुष्य के इस स्थूल भौतिक स्वरूप के पीछे भी असंख्य सूक्ष्म एवं अति सूक्ष्मतर रूप हैं। सब से बाहरी रूप स्थूल-शरीर है जिसके पीछे सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीर रहते हैं। इन तीनों बाह्य रूपों के अतिरिक्त असंख्य अन्य रूप भी हैं जो इतने सूक्ष्म हैं कि दार्शनिकों ने उन्हें शरीर न कहकर केवल

आत्मा को चारों ओर से घेरने वाले सूक्ष्म आवरण कहा है। इन आवरणों में से प्रत्येक को, जो अगणित हो सकते हैं, अलग-अलग नाम देना अत्यन्त कठिन है। स्थूलतम से सूक्ष्मतम इन असंख्य रूपों के साथ इस भौतिक संसार में मनुष्य का अस्तित्व ब्रह्माण्ड की एक सत्य प्रतिलिपि की भाँति अथवा ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति की भाँति है जो कि बाह्यतम परिधि से अन्तरतम-केन्द्र अथवा शून्य तक एक वृत्त पूरा करती है। इस प्रकार मनुष्य के अस्तित्व का अन्तरतम-केन्द्र अथवा शून्य तथा ईश्वर की अभिव्यक्ति का केन्द्र वास्तव में एक ही है। ईश्वर-साक्षात्कार अथवा आत्म-साक्षात्कार का एक ही तात्पर्य है। विकास के नियमानुसार संपूर्ण जगत की उत्पत्ति उसी बिन्दु-शून्य से हुई। उसी प्रकार मनुष्य का अस्तित्व भी उसी बिन्दु से विकसित हुआ।

सृष्टि निर्माण के पूर्व केवल मूल तत्त्व था और आज का यह संपूर्ण दृश्य जगत् अपने समस्त पदार्थों के वैयक्तिक वैशिष्ट्य को खोकर उसमें सूक्ष्मतम रूप में समाया हुआ था। पेड़ के सूक्ष्म बीज की भाँति केन्द्र भी सूक्ष्मतम रूप में संपूर्ण सृष्टि को अन्तर्निहित किए हुए था। अतः केन्द्र, उसी विस्तृत अभिव्यक्ति का, जिसे आज हम देख रहे हैं, एक अत्यन्त लघु रूप था। इस प्रकार, केन्द्र, अप्रत्यक्ष गतियाँ तथा अपने अति सूक्ष्म रूप में स्थित सृष्टि, सभी, एक इकाई के रूप में मिलकर समय आने पर इस व्यक्त सृष्टि का कारण बन गयीं। सृष्टि-रचना के समय प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व ग्रहण करने लगी। मनुष्य का व्यक्तित्व भी अपने अस्तित्व में आया। व्यक्तित्व की चेतना मानव की संघटना में पड़ने वाला प्रथम आवरण थी। एक-एक

करके और भी आवरण बढ़ते गये। अहं बढ़ने लगा और अन्त में उसने अधिक स्थूल स्वरूप ग्रहण कर लिया। मन, इन्द्रियाँ तथा वृत्तियाँ स्थूलता की वृद्धि में योगदान करने लगीं। मन और शरीर की क्रियाएँ संस्कार बनाने लगीं। अन्त में आज मनुष्य, बाह्य स्थूल-शरीर एवं अन्तर्सूक्ष्म-शरीर तथा आवरणों सहित अपने स्थूलतम रूप में आ पहुँचा है। अब इस बाह्य स्थूल अस्तित्व से चलकर एक के बाद दूसरी सूक्ष्म दशाएँ पार करते हुए हम सीधे केन्द्र की ओर बढ़ते हैं। स्थूल शरीर से हम मनः शरीर की ओर आते हैं और तब कारण शरीर की ओर। क्रमशः प्रत्येक पग पर अधिक सूक्ष्मतर होते हुए हम अन्य आवरणों को पार कर आगे बढ़ते जाते हैं।

इसके लिए आमतौर पर जो तरीके अपनाये जाते हैं उन्हें तीन भागों में बाँटा गया है : कर्म, उपासना तथा ज्ञान। ये विभिन्न धर्मों तथा मतों के लिए सामान्य आधार प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए प्रयोग में लाये जाने वाले चार प्रारंभिक साधन (साधन चतुष्टय) सभी में लगभग एक समान हैं।

इन साधनों में प्रथम साधन विवेक है। संसार में हम अनेक वस्तुएँ देखते हैं किन्तु जब हम उनके अस्तित्व के विषय में विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वे परिवर्तनशील हैं, अर्थात्, जैसा हम साधारणतया कहते हैं, वे माया के विभिन्न रूप हैं। तब हमारा ध्यान क्षणिक वस्तुओं से हट कर शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील तत्त्व तक पहुँचता है। ऐसी दशा में सांसारिक वस्तुएँ अपना आकर्षण खोने लगती हैं और हम एक प्रकार से उनसे अनासक्त हो जाते हैं। अनासक्ति से

हमें वैराग्य की दशा प्राप्त होती है, जिसका चारों साधनों में द्वितीय स्थान है। वैराग्य उत्पन्न होने के कुछ अन्य कारण भी हैं। उदाहरण के लिए जब हम सांसारिक वस्तुओं के अत्यधिक भोग से ऊब जाते हैं तो कभी-कभी उनके प्रति एक आन्तरिक घृणा का अनुभव करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हमारा ध्यान स्वभावतः किसी उच्चतर आदर्श की ओर जाता है और हम अपने में ईश्वरीय विचार के जागरण का अनुभव करने लगते हैं। वैराग्य का एक दूसरा कारण यह भी है कि जब हम संसार की अविश्वसनीयता और विश्वासघात से घायल होकर निराश हो जाते हैं तो हमारा मन सांसारिक वस्तुओं से पराङ्मुख हो जाता है। जब हम अपने किसी प्रियजन की मृत्यु से शोकग्रस्त होते हैं तब भी असंतोष एवं विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाती है। परन्तु ऐसी परिस्थितियों में उत्पन्न वैराग्य कभी भी सच्चा या स्थायी नहीं होता। विषम परिस्थितियों के बदलते ही यह शीघ्र ही गायब हो जाता है। कहानी है कि एक व्यक्ति कबीरदास जी के दर्शन करना चाहता था। जब वह उनके घर पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि वे अपने एक संबंधी के शव-दाह के लिए लोगों के साथ श्मशान गये हुए हैं। वह व्यक्ति उनसे वहीं मिलने के लिए श्मशान की ओर चला; पर चूंकि उसने उन्हें कभी देखा नहीं था अतः इतने लोगों में कबीरदास को पहचानना उसके लिए कठिन होता। इसलिये लोगों ने उससे कहा कि वह शव के साथ जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे के चारों ओर के प्रभामण्डल को देखता रहे। प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे का प्रभामण्डल ज्यों-ज्यों वह श्मशान भूमि की ओर अग्रसर होगा, चमकता हुआ दिखाई पड़ेगा पर जब वह लौटेगा, शनैः शनैः मन्द होता जायेगा और अन्त में गायब हो जायेगा।

केवल कबीर के चेहरे का प्रभामण्डल ज्यों का त्यों चमकता रहेगा। तात्पर्य यह कि आकस्मिक कारणों से उत्पन्न वैराग्य साधारणतया अस्थायी होता है तथा परिस्थितियों के परिवर्तित होने पर बदल जाता है। कारण यह है कि आकस्मिक आघात यद्यपि अस्थायी रूप से वैराग्य उत्पन्न कर देता है परन्तु फिर भी इच्छाओं एवं भोगों का बीज हृदय की गहराई में जमा पड़ा रहता है और अनुकूल वातावरण पाकर वह शीघ्र ही प्रस्फुटित हो सकता है। गहरी सफाई और उचित समभाव की स्थापना के पश्चात् ही वैराग्य की यथार्थ भावना अपने स्थायी प्रभावों सहित विकसित हो सकती है।

वैराग्य की साधना वेदान्ती लोग एक अन्य प्रकार से करते हैं। वे अपनी कल्पना पर यह विश्वास करने के लिए जोर देते हैं कि प्रत्येक वस्तु जो वे देख रहे हैं माया है, अतः क्षणिक अथवा मिथ्या है और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके मूल में जो सच्चाई है वही ब्रह्म है। इस विचार को अत्यधिक सुदृढ़ करने के लिए वे अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करते हैं और इसके अभ्यस्त हो जाते हैं। परिणामस्वरूप, उनकी केवल बाह्य क्रियाओं और आदतों में परिवर्तन होता है। अतः इसका प्रभाव ऊपरी ही होता है। हो सकता है कि निरंतर लंबे समय तक साधना करने के बाद यह प्रभाव कुछ अन्तर्मुख (भीतरी) हो जाय। वैराग्य की ही तरह, कल्पना के जोर मात्र से उत्पन्न किया गया और व्यवहार में न उतारा गया विवेक भी सुदृढ़ नहीं होता। यदि हम इस विषय का गहन अध्ययन करें तो हमें ज्ञात हो जायेगा कि विवेक और वैराग्य वस्तुतः साधन नहीं हैं, किन्हीं साधनों के परिणाम मात्र हैं। विवेक या वैराग्य मन

की एक अवस्था है जो स्मरण, भक्ति अथवा प्रेम इत्यादि कुछ यौगिक साधनों के निरंतर अभ्यास से विभिन्न दशाओं में उत्पन्न होती है। जब तक इंद्रियाँ पूरी तरह शुद्ध नहीं हो जातीं तब तक वास्तविक विवेक उत्पन्न नहीं हो सकता। यह तभी होता है जब मन उचित रूप से व्यवस्थित एवं संयमित हो जाता है तथा अहंकार एक विशुद्ध अवस्था धारण कर लेता है। इस प्रकार विवेक तो वास्तव में उन साधनों का परिणाम है जिन्हें वांछित परिणामों को लाने के लिए अपनाया जाता है। इसी तरह, वेदान्तियों का द्वितीय साधन, वैराग्य, विवेक का परिणाम है। इस प्रकार, विवेक और वैराग्य योग की प्रारंभिक उपलब्धियों की अवस्थाएँ हैं न कि उन अवस्थाओं की प्राप्ति के लिए साधन अथवा उपाय। योग की सहज-मार्ग पद्धति में विवेक तथा वैराग्य साधन नहीं माने जाते; उन्हें साधक की यात्रा में स्वतः विकसित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। सहज मार्ग की साधना वेदान्तियों के तृतीय साधन से प्रारंभ होती है, जिसमें षट् सम्पत्ति नामक छः प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हैं। इनमें से प्रथम सम्पत्ति शम है जिसका अर्थ निश्चलता एवं स्थिरता की ओर ले जाने वाली मन की शान्त अवस्था से है। जब हम इसका अभ्यास करते हैं तो विवेक एवं वैराग्य स्वतः आ जाते हैं। मेरी राय में, वस्तुओं की अस्तित्वहीनता के विचार द्वारा वैराग्य की साधना करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसमें एक नकारात्मक तरीका अपनाना पड़ता है और अपनी दृष्टि में आने वाली सभी वस्तुओं को छोड़ना अथवा अस्वीकार करना होता है। यदि हम सकारात्मक दृष्टिकोण अपना लें तथा एक ही वस्तु को सत्य मानकर सच्चे हृदय से उसमें लग जायँ तो अन्य वस्तुएँ अपने आप पीछे

छूट जायेंगी एवं शनैः शनैः हम उनकी ओर से उदासीन हो जायेंगे। फलतः उनमें हमारा लगाव क्षीण होने लगेगा और हम सरलतम उपायों द्वारा वैराग्य की प्राप्ति कर लेंगे।

इस प्रकार, योग में पहली बात सदैव चंचल रहने वाले मन को सही रूप से व्यवस्थित करना है। मन असंख्य भाव एवं विचार उत्पन्न करता है, इन्द्रियों एवं प्रवृत्तियों को प्रेरणा देता है तथा शरीर को क्रियाशील करता है। सारी अच्छाई या बुराई मन से उत्पन्न होती है। यह एक मात्र मन ही है जो हमारे भाव, विचार एवं आवेगों को नियन्त्रित करता है। दार्शनिकों ने मन की वृत्तियों को पाँच भागों में बाँटा है। इनमें से प्रथम वृत्ति 'क्षिप्त', मन की क्षुब्ध दशा है जिसमें भूख, प्यास, क्रोध, दुःख, की अनुभूतियाँ तथा धन एवं यश आदि की इच्छाएँ, सम्मिलित हैं। द्वितीय वृत्ति, 'मूढ' है जिसकी प्रवृत्तियाँ मन्दता, सुस्ती अथवा आलस्य बढ़ाती हैं। तृतीय वृत्ति, 'विक्षिप्त' उस प्रवृत्ति से संबंधित है जो मन को पवित्र विचारों से दूर करती है तथा ध्यान के समय अनेक असंबद्ध विचारों को पैदा करती है। चौथी 'एकाग्र वृत्ति' है जो हमारे ध्यान को एक ही वस्तु पर केन्द्रित करने में समर्थ होती है। अन्तिम वृत्ति 'निरोध' है जो मन को जटिलताओं एवं बाधाओं से मुक्त करके पूर्णतः आत्मतुष्ट बनाती है। इस अंतिम अवस्था की प्राप्ति के लिए ऋषियों ने साधारणतया सर्वविख्यात अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) बताया है। सहज-मार्ग प्रशिक्षण पद्धति के अन्तर्गत हम योग की सातवीं सीढ़ी 'ध्यान' से प्रारंभ करते हैं। ध्यान का अभ्यास करने के लिए हम अपने मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करते हैं।

इसमें ध्यान से पूर्व के यम-नियमादि सोपानों की साधना अलग-अलग नहीं ली जाती। जैसे-जैसे हम ध्यान के क्षेत्र में बढ़ते हैं उनका अभ्यास स्वतः होने लगता है। इस प्रकार, इस साधन से हमारे समय एवं परिश्रम की काफी बचत हो जाती है।

सारांशतः हम अपना अभ्यास वेदान्तियों के तृतीय साधन की षट् सम्पत्तियों में से प्रथम अर्थात शम से आरंभ करते हैं और अपना संपूर्ण ध्यान मन को उचित रूप से व्यवस्थित करने एवं सुधारने में लगा देते हैं। यह कार्य किसी योग्य गुरु की प्राणाहुति की शक्ति की सहायता से बड़ी सरलतापूर्वक संभव हो जाता है। जब हम अन्य वस्तुओं की उपेक्षा करके एक ही वस्तु अर्थात् सत्य पर अपना ध्यान केन्द्रित कर देते हैं तो इंद्रिय-निग्रह या 'दम' स्वतः सध जाता है। अधिकतर ऋषिगण यह मार्ग अपनाते हैं। कुछ मार्गों में कर्म के द्वारा शम की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है और कुछ में भक्ति के द्वारा। कुछ ऐसे भी हैं जो इन दोनों को अलग छोड़कर ज्ञान के माध्यम से आगे बढ़ते हैं। वास्तव में, कर्म, उपासना एवं ज्ञान की अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न नहीं, अपितु परस्पर संबंधित हैं तथा तीनों एक साथ एक ही अवस्था में विद्यमान रहती हैं। उदाहरण के लिए, उपासना में मन का नियंत्रण ही कर्म है, और मन की नियन्त्रित दशा उपासना है तथा उसकी चेतना ज्ञान है। ज्ञान में, विचार करने की क्रिया ही कर्म है, विचार की हुई वस्तु पर स्थित रहना उपासना है, और उसके परिणाम की अवस्था, ज्ञान है। इसी प्रकार, कर्म में, कार्य करने का निश्चय ही कर्म है, उसे क्रिया रूप में परिणत करना उपासना है तथा उसकी उपलब्धि की चेतना ज्ञान है। इस प्रकार,

हमारी प्रशिक्षण पद्धति में, यह सब, बड़ी सफलतापूर्वक एक ही साथ लिये जाते हैं, जिनसे वैराग्य एवं विवेक वास्तविक रूप में स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। कोई भी अभ्यास वास्तव में निरर्थक है, यदि उसका स्वाभाविक परिणाम विवेक तथा वैराग्य न हो। विवेक का वास्तविक उदय तभी समझना चाहिए जब मनुष्य स्वयं अपनी त्रुटियों और कमियों का एहसास करने लगे और तहे दिल से उसके लिए पश्चात्ताप करने लगे।

हम प्रथम दो सम्पत्तियों की व्याख्या कर चुके। अब हम तृतीय पर आते हैं जिसे 'उपरति कहते हैं और जिसका अर्थ है अपने को हटा लेना। इस दशा में मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं, यहाँ तक कि परलोक की इच्छाओं से भी मुक्त हो जाता है। वह संसार की किसी भी वस्तु से आकृष्ट या मोहित नहीं होता। उसका मन सदा केवल एक सत्य में ही केन्द्रित रहता है। यह वैराग्य की दशा से इस अर्थ में भिन्न है कि वैराग्य में सांसारिक वस्तुओं के प्रति अरुचि का भाव रहता है जब कि 'उपरति' में आकर्षण और विकर्षण दोनों निःशेष हो जाते हैं। वैराग्य वास्तव में इस श्रेष्ठतर एवं उच्चतर स्थिति का अपूर्ण रूप है। इस स्थिति में हमारा मन, वृत्तियाँ तथा इन्द्रियाँ पूर्णतः शुद्ध हो जाती हैं। हम सभी बाह्य वस्तुओं से ऊबने से लगते हैं और उन्हें ध्यान देने योग्य भी न समझ कर उनसे दूर हो जाते हैं। हम संसार की आसक्ति के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य के लिए स्वर्ग के सुखों का भी कोई आकर्षण नहीं रहता और न तो उसमें मुक्ति, निर्वाण अथवा अन्य उच्चतर आदर्शों के प्रति ही कोई आकर्षण रहता है।

चतुर्थ संपत्ति तितिक्षा अथवा धैर्य की स्थिति है। ऐसी स्थिति में मनुष्य ईश्वर-प्रदत्त सभी वस्तुओं से पूर्णतः संतुष्ट रहता है। उस पर मान-अपमान, भर्त्सना अथवा आघात का कोई असर नहीं होता है।

पंचम संपत्ति श्रद्धा है, जो एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। श्रद्धा नामक अध्याय में वर्णित कृत्रिम श्रद्धा की प्रारंभिक अवस्थाओं से यह अत्यन्त भिन्न है।

अंतिम संपत्ति समाधान है। यह वह स्थिति है जिसमें मनुष्य अपने आपको पूर्णतया मालिक की इच्छा पर छोड़ देता है, और इसका उसे ज्ञान भी नहीं रहता है। इस स्थिति में मनुष्य पूर्णरूपेण ईश्वरपरायण रहता है और अन्य कोई विचार उसके मन में नहीं आता।

इस प्रकार हमने तृतीय साधन की विभिन्न उपलब्धियों पर विचार किया है। हम अब चार साधनों के अंतिम साधन 'मुमुक्षा' पर आते हैं। जब मनुष्य इस दशा पर आता है तो उसे परम सत्य से निकटतम संपर्क बढ़ाने अथवा शून्य की स्थिति में वास्तविक रूप में लय हो जाने के अतिरिक्त और कुछ करना शेष नहीं रहता। यह साक्षात्कार का व्यावहारिक पक्ष है और योग की प्राचीन पद्धति का अनुसरण करने पर प्रारंभिक साधनों के अनवरत अभ्यास के पश्चात् ही प्राप्त हो पाता है। सहज-मार्ग की आधुनिक पद्धति पुराने निर्धारित मार्ग से इस अर्थ में भिन्न है कि यह अष्टांग योग की विभिन्न सीढ़ियों को एक-एक करके अलग नहीं लेती। इस पद्धति के अन्तर्गत ध्यान करते समय आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान तथा समाधि सभी एक साथ लिए जाते हैं। ध्यान हमें आगे चलकर एकाग्रता अथवा समाधि की

स्थिति की ओर ले जाता है। इस प्रकार हम स्वभावतः समाधि की ओर बढ़ते हैं जो योग का अन्तिम चरण है।

समाधि अथवा एकाग्रता की अवस्थाओं के तीन रूप होते हैं। इनमें से प्रथम तो वह है जिसमें मनुष्य अपने को खोया या डूबा हुआ महसूस करता है। उसकी इन्द्रियाँ, भाव तथा आवेग कुछ समय के लिये ऐसे निलम्बित हो जाते हैं मानों वे उस समय के लिए निर्जीव हो गये हों। वह घोर निद्रा में सोये हुए मनुष्य की भाँति होता है जिसे किसी बात की चेतना नहीं रहती। दूसरा रूप वह है जिसमें यद्यपि मनुष्य एक बिन्दु पर पूर्णतः एकाग्रचित्त है फिर भी उसमें अपने को वस्तुतः डूबा हुआ महसूस नहीं करता। इसे अचेतनता में चेतनता की अवस्था कहा जा सकता है। स्पष्टतः उसे किसी बात की चेतना नहीं रहती फिर भी उसके अन्दर चेतनता विद्यमान रहती है, यद्यपि केवल छाया रूप में ही। एक मनुष्य किसी समस्या पर गहरे तौर से सोचता हुआ सड़क पर चलता जाता है। वह उस समस्या के चिन्तन में इतना डूबा हुआ है कि अन्य सभी वस्तुओं के प्रति अचेतन है और न तो वह रास्ते में कोई वस्तु देखता है और न आसपास की कोई आवाज या बातें सुनता है। वह मन की एक अचेतन अवस्था में चलता जाता है। फिर भी सड़क के किनारे किसी पेड़ से वह टकराता नहीं और न उस रास्ते में आने वाली किसी मोटर से ही दबता है। वह अपनी अचेतन अवस्था में अनजाने ही इन सभी आवश्यकताओं के प्रति सजग रहता है और अवसर के अनुसार कार्य करता है। किंतु उसे उन कार्यों की कोई चेतना नहीं रहती। यह अचेतन में चेतन की अवस्था है। इस मनःस्थिति में अन्य वस्तुओं की चेतना सुप्तप्राय रहती है और उसका प्रभाव नहीं पड़ता।

तीसरा रूप सहज समाधि का है। यह एकाग्रता का सर्वोत्तम रूप है। इस स्थिति में मनुष्य अपने कार्य में व्यस्त रहता है, मन उसमें लगा रहता है परन्तु उसका अन्तस्तल उसी सत्य वस्तु पर स्थिर रहता है। अपने सचेतन मन से तो वह बाह्य कार्यों में व्यस्त रहता है पर उसका अवचेतन मन दैवी विचारों में व्यस्त रहता है। प्रत्यक्ष रूप से सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी वह सारे समय समाधिस्थ रहता है। यह समाधि का उच्चतम रूप है और इस स्थिति में स्थायी रूप से प्रवेश करने के उपरान्त मनुष्य के लिए कदाचित् कुछ करना शेष नहीं रह जाता। साधना के क्रम में प्राप्त होने वाली विभिन्न आध्यात्मिक स्थितियाँ प्रकृति के कार्य के लिए प्राप्त होने वाली विशिष्ट शक्ति एवं क्षमता की द्योतक हैं। सब से नीचे का क्षेत्र पिण्ड-देश है जो वक्षःस्थल में स्थित विभिन्न छोटी-छोटी ग्रन्थियों से मिलकर बना है। यह पंचाग्नि विद्या का केन्द्र है जिसका उल्लेख प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों में अधिकतर हुआ है। जब मनुष्य इस क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसमें भौतिक विज्ञान का सहज ज्ञान स्वतः विकसित हो जाता है जिसे वह समुचित अभ्यास एवं अनुभव के उपरान्त अपनी इच्छानुसार उपयोग में ला सकता है। पर जहाँ तक आध्यात्मिकता का संबंध है, यह उपलब्धि उसके किसी काम की नहीं। अतः एक उचित प्रशिक्षण-विधि में उन सभी भौतिक शक्तियों के प्रति साधक को असावधान कर दिया जाता है तथा गुरु को ध्यान-शक्ति द्वारा उन्हें पार करने में सहायता दी जाती है जिससे उसका मन केवल शुद्ध आध्यात्मिक विषय के अतिरिक्त अन्य किसी ओर आकृष्ट न हो। वह तब अपने ऊपर सौंपे हुए छोटे मोटे दैवी कार्य करने की स्थिति में हो जाता है। उसका

कार्य-क्षेत्र उस अवस्था में एक छोटा स्थान होता है जैसे एक कस्बा, एक जिला अथवा कोई वृहत्तर खण्ड। उसका कार्य अपने क्षेत्र के अंतर्गत सभी क्रियाशील वस्तुओं की प्रकृति की माँग के अनुरूप उचित व्यवस्था करना है। वह अपने क्षेत्र में वांछित तत्त्वों का सन्निवेश करता है और अवांछित तत्त्वों को बाहर निकालता है। उसे ऋषि कहते हैं और उसका पद 'वसु' होता है।

उससे ऊँची स्थिति एवं पद 'ध्रुव' का है। उसे ब्रह्माण्ड मण्डल का पूर्ण ज्ञान होता है और उसकी श्रेणी 'मुनि' की होती है। उसका कार्य क्षेत्र अधिक विस्तृत है तथा 'वसुओं' पर उसका प्रभुत्व होता है। उसका कर्त्तव्य है वातावरण से समस्त अवांछित विचारों एवं भावों को दूर कर उसे स्वच्छ रखना। दैनिक कार्य के अतिरिक्त उसे उस समय के लिए सौंपे गये अन्य अनेक कार्य देखने पड़ते हैं। यह अवस्था मानव शरीर में स्थित हृदय के निकटवर्ती क्षेत्र (Hylem Shadow) के पूर्णतया प्रकाशमय होने पर प्राप्त होती है।

उससे उच्चतर स्थिति 'ध्रुवाधिपति' की है जो ध्रुवों के कार्य का निर्देशन करता है। यह दशा नाभि बिन्दु पर अधिकार करने के उपरान्त मिलती है। उसका कार्य-क्षेत्र संपूर्ण विश्व होता है किन्तु यह कार्य ध्रुव के कार्य की भाँति होता है। वातावरण को स्वच्छ करने के प्रतिदिन के कार्य के अतिरिक्त उसे समय समय पर घटने वाली आकस्मिक घटनाओं की भी देख-भाल करनी होती है। ईश्वरीय कार्य करने वाली ये आत्माएँ अत्यधिक विकसित होती हैं; इनकी क्षमता अपार होती है, इनमें व्यक्ति चेतना और निजता का सर्वथा अभाव हो गया रहता है और ये पूर्णतः प्रकृति की

इच्छा के अधीन रहकर कार्य करती हैं। इनका कार्य स्वतः और यंत्रवत् होता है और इन्हें किसी भी विषय में स्वतः निर्णय करने या अपने मन से कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं होती।

'पार्षद' की स्थिति, जो ध्रुवाधिपति के पद से ऊँची है, केवल असाधारण परिस्थितियों में प्रकृति की अत्यधिक आवश्यकता पर ही किसी को प्रदान की जाती है। वह अपने नीचे कार्य करने वाले उपर्युक्त विभिन्न अधिकारियों के कार्यों को निर्देशित तथा व्यवस्थित करता है, उन्हें विभिन्न कार्य देता रहता है तथा अपने लिए केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों को ही रखता है। निर्धारित परिणाम घटित करने के लिए उसकी इच्छा-शक्ति महान साहसिक कार्यों अथवा युद्धों जैसे सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में कार्य करती रहती है। वह प्रकृति द्वारा नियोजित विनाश एवं सृष्टि के सारे कार्य करता है। उसका कार्य-क्षेत्र केवल इसी जगत तक सीमित है। यह स्थिति सहस्र-दल कमल के केन्द्र बिन्दु पर मनुष्य के पूर्ण अधिकार प्राप्त करने पर मिलती है।

'महापार्षद' की स्थिति सर्वोच्च है। यह अन्तिम दैवी पद है जो किसी को बिरले ही दिया जाता है, वह भी तब जब प्रकृति को घोर परिवर्तन करने की अथवा दुनिया को बदलने की आवश्यकता होती है। उसमें सर्वोच्च शक्ति होती है। यह अनुकपाल, सिर के पिछले भाग की हड्डी (Occipital Bone), के दाहिने क्षेत्र से, जैसा कि 'राजयोग का दिव्य दर्शन' नामक पुस्तक के पृष्ठ ३२ चित्र ५ में दर्शाया गया है, प्रारम्भ होती है।

ये राजयोग की अद्भुत उपलब्धियाँ हैं, जिन्हें मनुष्य तभी प्राप्त कर सकता है जब वह इसके लिए वस्तुतः उद्यत हो और उचित निर्देशन में सही मार्ग पर अग्रसर हो रहा हो।

अध्याय १०

मेरी अन्तर्दृष्टि

इन दिनों संसार शोचनीय स्थिति से गुजर रहा है। दिन प्रतिदिन राजनीतिक दशा अत्यन्त जटिल होती जा रही है। आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी है। नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अधःपतन अपनी अंतिम सीमा पर पहुँच गया है। प्रतिद्वन्द्विता, अशान्ति एवं अरक्षा का वातावरण सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। अपने पड़ोसी राष्ट्र को प्रत्येक राष्ट्र ईर्ष्या से देखता है और उसका शोषण करने के लिए अपने सभी साधनों का प्रयोग करता है। इन तथ्यों से संसार के राजनीतिज्ञ अनभिज्ञ नहीं हैं। वे विश्व की विभिन्न समस्याओं का संतोषप्रद समाधान करने के लिये हर संभव प्रयत्न कर रहे हैं। पर इस कार्य के लिए स्थापित सभी संगठनों के प्रयत्न साधारणतः कोई संतोषजनक परिणाम नहीं दे पा रहे हैं। विश्व-शान्ति की समस्या, जिसे बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ इतनी प्रमुखता दे रहे हैं, केवल एक भ्रम अथवा मृग-मरीचिका मात्र है।

भारत की वर्तमान अवस्था किसी उज्ज्वल भविष्य की द्योतक नहीं। देश में सर्वत्र मतभेद तथा दलबन्दी फैली हुई है। स्वार्थ प्रबल है। नैतिक सिद्धांतों की अवहेलना हो रही है। दाल-रोटी की समस्या अत्यन्त कठिन है। पर इतने पर भी हम में से कुछ लोग सोचते हैं कि देश उन्नति कर रहा है। लोग घोर भौतिकता पर आधारित पाश्चात्य ढंग की सभ्यता की ओर देश का धीरे-धीरे बढ़ना ही प्रगति का द्योतक मानते

हैं। पर अब भौतिक युग की इतिश्री होनी ही है। पुरानी व्यवस्था परिवर्तित होकर नये को अदश्य जन्म देगी। विद्युत् एवं अणुशक्ति पर आधारित वर्तमान विश्व-सभ्यता का अस्तित्व बहुत दिनों तक रहने वाला नहीं है। इसका शीघ्र पतन अवश्यंभावी है। संपूर्ण वातावरण उग्र भौतिकता के विषैले प्रभाव से इतना अधिक दूषित हो चुका है कि उसे साफ करना अब मनुष्य की शक्ति से परे हो गया है। परिवर्तन के लिये समय अब आ सा गया है। यह आसन्न एवं अनिवार्य है और इसके लिए मनुष्य के रूप में ईश्वरीय शक्ति पहले से ही कार्य कर रही है। इसका उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक 'राजयोग का दिव्य दर्शन' में किया है। इस समय हम में से कुछ लोगों को यह विश्वसनीय भले ही न लगता हो पर निःसन्देह यह एक सत्य है। विश्व उस ईश्वरीय शक्ति तथा उसके तत्संबंधी कार्यों को कुछ समय पश्चात् जानेगा जब घटनाएँ काफी प्रकाश में आ जायेंगी। ईश्वरीय कार्य सदा किसी उच्च क्षमता वाले मानव के माध्यम से ही संपादित होता है, प्रत्यक्ष नहीं। कारण यह है कि ईश्वर के पास मन (मनस्) नहीं होता, जिसके द्वारा वस्तुएँ कार्यान्वित की जाती हैं। मनुष्य के पास मन होता है जो इस कार्य के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। पर यह तभी हो सकता है जब वह अपने अस्तित्व तक से बेखबर हो जाये। पूर्ण आत्म-निषेध प्राप्ति के उपरान्त जो कुछ भी उसमें बच रहता है वह मानवीय मन न होकर केवल शुद्ध, नितान्त विशुद्ध, ईश्वरीय-मन ही होता है। अब प्रकृति इस ईश्वरीय-मन के द्वारा अपना कार्य करती है यद्यपि देखने को यह मन मानव शरीर में ही रहता है।

अब मैं पाठकों के सम्मुख आगामी विश्व की एक झलक

प्रस्तुत करता हूँ जिसे मैं अन्दर से देखता रहता हूँ। विश्वास कीजिए या न कीजिए परंतु परोक्षदर्शी अवस्था में प्रकृति का अध्ययन करने का यह मेरा परिणाम है। विश्व के अवांछित तत्त्वों का विनाश प्रारंभ हो चुका है, इसके संकेत स्पष्ट हैं। विश्व के अस्तित्व काल में कई बार ऐसी घटनाएँ घटित हो चुकी हैं। उन अनेक घटनाओं में राम का रावण के विरुद्ध युद्ध, नूह का सैलाब और महाभारत का युद्ध, कतिपय उदाहरण हैं। ऐसा विनाश विभिन्न साधनों के द्वारा संपन्न होता है। ये साधन युद्ध अथवा आंतरिक कलह, ज्वालामुखी विस्फोट जैसे दैवी प्रकोप अथवा ऐसे ही अन्य रूपों में प्रस्तुत हो सकते हैं। अब अंतिम दृश्य के लिए समय आ गया है और विश्व उसकी ओर द्रुतगति से बढ़ रहा है। यह कार्य इस शताब्दी के अन्त तक पूरे वेग से प्रारंभ हो सकता है; परंतु अधोलिखित कुछ घटनाओं के होने में अधिक समय लग सकता है।

सूर्य की गर्मी पिछले कुछ समय से शनैः शनैः कम होती जा रही है। वैज्ञानिकों के लिए यह एक घबड़ा देने वाली समस्या हो सकती है क्योंकि कुछ समय पश्चात् सूर्य में गर्मी होने के कारण पृथ्वी पर जीवन बिलकुल असंभव हो सकता है। सारे भौतिक साधनों के होते हुए भी इन वैज्ञानिकों को इसका कोई समाधान नहीं मिल रहा है। परन्तु, मैं उन्हें यह विश्वास दिला सकता हूँ कि सूर्य की गर्मी अभी इस सीमा तक नहीं घटेगी। आज सूर्य की गर्मी में जो कमी हो रही है वह प्रकृति के परिवर्तन-कार्य में केवल शीघ्रता लाने के लिए हो रही है। इस कार्य के लिए नियुक्त व्यक्ति उसके लिए इसका उपयोग कर रहा है। संपूर्ण विश्व के अवश्यंभावी-परिवर्तन का यह एक असंदिग्ध संकेत है। इसके पश्चात् सूर्य पुनः अपनी संपूर्ण प्रखरता प्राप्त

कर लेगा। महाप्रलय के समय भी पुनः यही संकेत प्रकट होगा परन्तु चूंकि वह अभी अत्यन्त दूर की बात है, मैं उस पर यहाँ कुछ नहीं लिखना चाहता। इस संबंध में पाठकों की दिलचस्पी के लिए मैं यहाँ एक बात बतलाऊँ कि महाप्रलय के समय ध्रुव तारा अपने स्थान से कुछ अंश खिसक जायेगा तथा थोड़ा गरम हो जायेगा। उससे गैस के रूप में एक प्रबल शक्ति का निकलना प्रारंभ होगा और वह विश्व तथा अन्य सभी विद्यमान वस्तुओं को विनष्ट कर देगी। उत्तरी ध्रुव से यह विनाश-कार्य प्रारंभ होगा।

वर्तमान उथल-पुथल के परिणामस्वरूप भयंकर परिवर्तन हो जायेंगे और संसार का नवीन ढाँचा आज के संसार से सर्वथा भिन्न होगा। ग्रेट-ब्रिटेन का भविष्य दुर्भाग्यपूर्ण होगा। उसका एक अंश अर्थात् दक्षिणी-भाग समुद्र में डूब जायेगा। लन्दन के ठीक नीचे एक ज्वालामुखी शक्ति गुप्त रूप से कार्य कर रही है और समय आने पर उसका एक ज्वालामुखी के रूप में विस्फोट होगा। गल्फ-स्ट्रोम अपना रास्ता बदल देगी और देश अत्यन्त ठण्डा हो जायेगा। यूरोप का भी भाग्य वैसा ही होगा। छोटे-छोटे देश अपना अस्तित्व खो देंगे। रूस का भविष्य अधंकारमय है। वह रह नहीं सकता। उसका अपना ही अस्त्र उसके लिए घातक होगा। साम्यवाद अपनी ही जन्मभूमि में दफना दिया जायेगा। अमेरिका अपनी सम्पत्ति खो देने के भयानक खतरे में है और कुछ समय में वह बिलकुल दरिद्र हो जायेगा। साथ ही, उसकी शक्ति एवं महानता का भी अन्त हो जायेगा। भारतवर्ष पुनः अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करेगा तथा अपने ही शासन के अन्तर्गत उन्नति कर प्रमुखता प्राप्त करेगा। उसका आधिपत्य चारों ओर फैल जायेगा और विश्व

उसकी ओर मार्गप्रदर्शन के लिए आशा भरी दृष्टि से देखेगा। परंतु उसे भी विश्व की उथल-पुथल में भाग लेना होगा। देश में विद्रोह के कीटाणु बढ़ रहे हैं। देश का एक भाग, जैसे पूर्वी बंगाल, समुद्र में डूब जायेगा। ज्वालामुखी की शक्ति भी क्रियाशील है और देश के कुछ भागों को, विशेषकर बिहार को, भयंकर क्षति पहुँचा सकती है। दक्षिणी पठार, सुदूर भविष्य में एक द्वीप में परिवर्तित हो सकता है। संपूर्ण विश्व में घोर रक्तपात होगा और विभिन्न कारणों से जन-हानि इतनी अधिक होगी कि विश्व की जनसंख्या अत्यन्त कम हो जायेगी। आगामी विश्व का नवीन ढाँचा राख एवं कंकालों पर निर्मित होगा। भारतवर्ष में अध्यात्मवाद पर आधारित एक सभ्यता का प्रादुर्भाव होगा जो कालांतर में विश्व-सभ्यता के रूप में विकसित होगी। कोई देश या राष्ट्र आध्यात्मिकता को अपना आधार बनाए बिना जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक राष्ट्र को किसी समय इसे अपनाना ही होगा यदि वह अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहता है।

ओ३म् सत्यम्
सत्यमेव जयते
IN MEMORY OF
SAMARTH GURU SHRI
RAM CHANDRA Ji MAHARAJ OF FAT
GARH (U.P.)
SHRI RAM CHANDRA MISSION SHAJAHANPUR
U.P.

परिशिष्ट

मिशन का चिह्न

यह चिह्न श्री रामचन्द्र मिशन की साधना-पद्धति का पूर्ण चित्र प्रदर्शित करता है। फतेहगढ़ (उत्तर प्रदेश) निवासी महान दिव्यात्मा, समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज की पुण्य स्मृति में उन्हीं के शुभ नाम पर इस मिशन की नींव पड़ी थी। मिशन की साधना-पद्धति 'सहज मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है।

चिह्न के निचले तल के निकट 'स्वस्तिका' हमारे आरंभ बिन्दु का द्योतक है। यह उन विभिन्न रूपों, कर्मकाण्डों एवं अभ्यासों का क्षेत्र है जिनके साथ हम ध्येय-प्राप्ति के लिए 'सहज-मार्ग'-चिह्नित पथ पर अग्रसर होते हैं। बाधाओं एवं कठिनाइयों के पर्वतों को काटकर स्वयं प्रकृति ने यह मार्ग प्रशस्त किया है। भिन्न रूप धारण करने वाली स्थूलताओं के अंधकार एवं प्रकाश के विभिन्न क्षेत्रों से गुजरते हुए हम आगे बढ़ते चले जाते हैं, चाँद तथा सूर्य के क्षेत्रों से अत्यधिक ऊँचे, प्रत्येक पग पर सूक्ष्मतर होते हुए, जब तक कि हम पहुँच के उच्चतम बिन्दु को नहीं प्राप्त कर लेते। उगते हुए सूर्य द्वारा निर्मित प्रकाश-क्षेत्र, परमपूज्य श्रद्धेय समर्थ गुरु के द्वारा प्रारंभ किए हुए नवीन आध्यात्मिक युग को सूचित करता है। यह अन्तरिक्ष सर्वत्र फैल जाता है और उन क्षेत्रों में भी व्याप्त हो जाता है जहाँ से हम यात्रा आरंभ कर 'सहज-मार्ग' पथ पर अग्रसर होते हैं।

सृष्टि-रचना के पूर्व सर्वत्र विराजमान वस्तु को अंधकार कहा जा सकता है। अंधकार का अर्थ है प्रकाश का न होना; अथवा प्रकाश का अर्थ है, अंधकार का न होना। जहाँ प्रकाश नहीं रहता वहाँ क्या रहता है? उसे हम अंधकार कह सकते हैं। जहाँ सब कुछ समाप्त हो जाता है वहाँ क्या प्राप्त हो सकता है? उसके लिये 'शून्यता' ही उपयुक्त शब्द है। परन्तु, फिर भी 'अंधकार' एवं 'शून्यता' शब्दों से भी किसी न किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध होता ही है, अतः वास्तविक अवस्था के वर्णन में ये भी अक्षम हो जाते हैं। उपर्युक्त अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत अवस्था को समझने के लिए 'न अंधकार न प्रकाश' की अवस्था सम्भवतः सहायक हो सकती है। हमारा वर्त्तमान अस्तित्व इसी शुद्ध एवं परम अवस्था से विकसित हुआ है। इसे शाश्वत शान्ति का क्षेत्र कहा जा सकता है जो चित्र में सबसे ऊपर दिखाया गया है। वहाँ न प्रकाश है, न अन्धकार। उसके नीचे सत्यपद नामक क्षेत्र है जहाँ सत्य सर्वप्रधान है। इसीलिए यह क्षेत्र प्रकाश का क्षेत्र है; यद्यपि यहाँ प्रकाश अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान रहता है।